

# समरथ



मई-जून 2012 ♦ नई दिल्ली



तेरे दीवार की ज़ीनत तेरी 'द्रोणी वाइफ'  
अब उसे दफन किया अब मैं और मेरी हैं  
अब मेरी जंग है, फौलाद का दिल खिंची  
हर कदम मेरा है मैं अब कहीं कभी नहीं  
रुह में मैंने सजाये हैं हज़ारों नगम  
जिस्स चट्टान है, और दिल में दहकते शोलें

## नाहि तो जनम नसाई



टिकुली कविता एवं अन्य सामाजिक विषयों पर अपनी कलम से एक मज़बूत पहचान बना चुकी है। संगीत, नेटवर्किंग, घुमक्कड़ी और किताबें उनकी अन्य रुचियों में शामिल है। इंटरनेट जो कि एक सशक्त माध्यम बन चुका है, पर उनके लेख और कृतियां बड़ी संख्या में मौजूद हैं। इन लेखों और कृतियों पर भारतीय उपमहाद्वीप से लेकर अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया तक से काफी सकारात्मक टिप्पणियां आती रही हैं। कविता और कहानियों का कुछ हिस्सा प्रकाशित भी हुआ है और इंटरनेट पर भी मौजूद है। उनकी लेखनी के बारे में अतिरिक्त जानकारी के लिए : [http:// Tikulicious.wordpress.com/](http://Tikulicious.wordpress.com/) पर भी नज़र डाली जा सकती है।

## नो मोर ए ट्रॉफी वाइफ

### ■ टिकुली

सिर्फ अल्फाज़ न थे जो मेरे जानिब आये  
ज़हर में डूबा सा नशतर था जो मेरी रग-रग में  
ज़हर भरता गया दिल चीर गया इक पल में  
मेरे चेहरे पे नुमाया है जो ज़ख्मों के निशां  
यह मेरे लखत-ए-जिगर है, मेरे दिल का हैं बयां  
रेज़ा-रेज़ा सा बदन और घुंटी हर धड़कन  
जिस्म पर बोझ हो जैसे हर इक पैराहन  
वह मेरा खून जो रग-रग में मेरी बहता है  
फट के होटों कभी और जबां पर उतरा  
ज़ायका अपने लहू का ही मुझे मिलता रहा  
हुक्म था चाहिए उसको मेरे हर अंग का रस  
वहशी वह होंट मेरे लब का लहू पीते रहे  
बदनुमा जिस्म मेरी खाल मसलता ही रहा  
एक हैवान जो शैतान से भी बदतर था  
मेरी हर सांस को और रूह को डसता ही रहा

एक ज़हरीला सा था नाग मेरे हर जानिब  
 लपलपाती थी ज़बां ज़हर उगलती फुफकार  
 मेरी हस्ती पे मेरी रूह पे करती थी वह वार  
 ज़हर नस नस में भरा जिस्म मेरा तोड़ दिया  
 रूह और दिल के भी हर चाक में भी दर्द भरा  
 दर्द से टूटे हुए जिस्म के हर टुकड़े को  
 मैं यकजा किया और उस पे कफ़न डाल दिया  
 दरमियाँ टांगों के ज़ख्मों का एक अम्बार लिए  
 एक रैंदी हुई गुड़िया का लबादा लिए और आह लिए  
 'वक्त भर देता है हर जख्म' यह कैसे मानूं  
 सालता है हर एक लम्हा मेरी हस्ती को  
 याद का जाम भरे पीती रही मुद्दत तक  
 अपनी हस्ती से भी टकराती रही मुद्दत तक  
 और फिर घोर अंधेरो से मैं बाहर आयी  
 ख्वाबों के टुकड़े चुने जो भी जहाँ बिखरे थे  
 सारी आशाओं के दीपक भी समेटे मैंने  
 तेरी हस्ती तेरी परछायी तेरी वहशत को  
 राख कर मैंने हिकारत से कहीं फेंक दिया  
 मैंने परवाज़ भरी अपने जहां की जानिब  
 अब मैं कुरबानी की शय हूँ न तेरे लुत्फ़ की शय  
 तेरे उपभोग का सामां या फिर तेरी सेज नहीं  
 तेरी रक्कासा नहीं और ना सजावट की शय  
 एक सजी गुड़िया जो ट्राफी थी न कि बीवी थी  
 सेज पे सजती थी कि बस उसका यही काम ही था  
 वर्ना दीवार की ज़ीनत का नसीबा था मिला  
 मैंने परवाज़ भरी राह चुनी खुद मैंने  
 मेरी गैरत ने मेरे कान में कुछ बोल कहे  
 आसमां फैला है मैं उसके तले सो लूंगी  
 पर कोई जुल्म सहूँ यह मुझे मंजूर नहीं  
 मेरी खुदारी को अब चोट मिले, अब न सहूँ  
 तेरे दीवार की ज़ीनत तेरी 'ट्राफी वाइफ़'  
 अब उसे दफन किया अब मैं और मैं ही हूँ  
 अब मेरी जंग है, फौलाद का दिल रखती हूँ  
 हर क़दम मेरा है मैं अब कहीं कमज़ोर नहीं  
 रूह में मैंने सजाये हैं हज़ारों नगमे  
 जिस्म चट्टान है, और दिल में दहकते शोले

अनुवाद : खुर्शीद अनवर

## महिलाओं के खिलाफ खड़ी खाप पंचायतें

■ कुमार नरेन्द्र सिंह

पिछले दिनों बागपत की खाप पंचायत ने दिन ढलने के बाद लड़कियों को घर से बाहर जाने, मोबाइल का इस्तेमाल करने और प्रेम विवाह करने के खिलाफ फतवा जारी किया, लेकिन इस फतवे के खिलाफ जब शोर बढ़ने लगा तो वह उसे महज मशविरा बताने लगी, मानो इस तरह का मशविरा देना वाजिब हो। वैसे यह कोई पहली बार नहीं है, जब किसी खाप पंचायत ने फतवे के ज़रिये लड़कियों की आज़ादी पर रोक लगाने की कोशिश की हो और मामला उलटा पड़ते देख उसे मशविरा बताने लगी हो, बल्कि ऐसा हमें बार-बार देखने को मिलता रहा है। फिर ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में खाप पंचायतें ऐसे फतवे जारी नहीं करेंगी।

बहरहाल, यहां सवाल तो यह उठता है कि क्या इस फतवे को मशविरा मान लेने से वह वाजिब हो जाएगा? कतई नहीं, क्योंकि बागपत की खाप पंचायत से महिलाओं ने कोई मशविरा नहीं मांगा था। इसके अलावा बागपत खाप पंचायत का मशविरा स्त्री-पुरुष समानता के सिद्धांत का अतिक्रमण करता है। वास्तव में बागपत की खाप पंचायत का यह मशविरा मर्दवादी वर्चस्व की मानसिकता से प्रेरित है। अगर ऐसा नहीं है तो वही खाप पंचायत, जो लड़कियों के लिए फतवा जारी करता है, लड़कों के लिए सारी छूटें देने को क्यों तैयार है? जाहिर है कि यह फतवा है, मशविरा नहीं। क्या खाप पंचायतें नहीं जानतीं कि वे ऐसा कोई मशविरा नहीं दे सकतीं, जो

जाति, धर्म, संप्रदाय या लिंग पर आधारित भेदभाव को बढ़ावा देता हो? कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि बागपत की खाप पंचायत का फतवा मशविरा भी है, तब भी उसे वाजिब करार नहीं दिया जा सकता। किसी की आज़ादी पर पहरा

**खाप पंचायत का फतवा मर्दवादी सोच का ही एक विकृत नमूना है। इस सोच का दायरा औरतों के भूगोल तक ही सीमित रहता है। मर्दवादी यौन-शुचिता का दुराग्रह और जातीय श्रेष्ठता की उनकी अहमक समझदारी उनके वैचारिक और व्यावहारिक फलक का विस्तार नहीं होने देते। यही कारण है कि कन्या-भ्रूण हत्या जैसे अपराध को लेकर उनके मन में कोई हलचल नहीं मचती, महिलाओं का शोषण और उनके साथ होने वाले बलात्कार उन्हें व्यथित, आक्रोशित नहीं करते, लेकिन यदि किसी लड़की ने अपनी इच्छा से अपने जीवन साथी का चुनाव कर लिया तो उनके ऊपर बिजली टूट पड़ती है, आसमान फट पड़ता है।**

बिठाने या आत्महत्या करने के लिए यदि मशविरा दिया जाता है, तो उसे गैर कानूनी ही कहा जाएगा। इतना ही नहीं, ऐसा मशविरा देने वालों के खिलाफ कानूनी कार्रवाई भी की जा सकती है। ऐसे में यह अचरज की बात है कि सरकार ऐसे फतवे देने वालों के खिलाफ कोई कार्रवाई क्यों नहीं करती, जबकि ऐसा करना उसका उत्तरदायित्व बनता है। बागपत की खाप पंचायत का यह 'मशविरा' स्त्री-विरोधी है और उसके अधिकारों का हनन करता है यानी वह भेदभावपूर्ण है क्योंकि प्रकारांतर से वह स्त्री को पुरुषों के अधीन रखने की वकालत करता है, उसे

निचले पायदान पर रखने की जिद रखता है। जहां तक मशविरे के कानून व संविधान-सम्मत तथा समय सापेक्ष होने की बात है, तो वह पूरी तरह उनका निषेध करता है। हमारे देश में कानून का शासन है, जिसकी नज़र में देश का हर नागरिक बराबर है, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष। इसी तरह हमारा संविधान पुरुष और महिला के बीच कोई भेदभाव नहीं करता, बल्कि दोनों को समान अधिकार प्रदान करता है। ऐसे में बागपत की खाप पंचायत के 'मशविरे' को कहीं से भी वाजिब नहीं ठहराया जा सकता। इसलिए

यदि उसका फतवा महज मशविरा भी है, तब भी उसकी जोरदार मुखालफत की जानी चाहिए। आखिर खाप पंचायत ने अपने मशविरे में लड़कों पर कोई किसी भी प्रकार का कोई प्रतिबंध क्यों नहीं लगाया। जाहिर है कि खाप पंचायत का मशविरा लिंगभेदी है, जो इस बात की वकालत करता है कि लड़के जो चाहें, करने के लिए स्वतंत्र हैं लेकिन लड़कियां सात पर्दे के पीछे रहें। कहना न होगा कि यह मशविरा मर्दवादी सोच का एक विकृत नमूना है, जिसे कतई स्वीकार नहीं किया जा सकता।

बागपत की खाप पंचायत का फतवा समय-सापेक्ष भी नहीं है। हमारा देश एक लोकतांत्रिक देश है, जहां महिलाएं जीवन के हरेक क्षेत्र में मर्दों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर न सिर्फ चल रही हैं, बल्कि कई मामलों में तो उन्हें पछाड़ भी रही हैं। लोकतंत्र ने महिलाओं के लिए जगह बनाई है, जहां वे अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण कर रही हैं। आज हमारे देश की महिलाएं प्रोफेसर, वैज्ञानिक, डॉक्टर और उद्यमी बनकर देश की प्रगति में बराबर की साझीदार हैं। इसके बावजूद यदि कोई खाप पंचायत सामंती युग वाली पुरुषवादी नैतिकता का रक्षक बनने पर आमादा है, तो हमें उसका प्रतिकार करना ही होगा। इसे विडंबना ही कहेंगे कि एक तरफ हम अपने को दुनिया का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश होने का दावा करते अघाते नहीं और दूसरी तरफ आधी आबादी को लोकतांत्रिक आज़ादी से महरूम रखने का कुचक्र रचते हैं। क्या खाप पंचायतों को इसका भान है? यह स्थिति तब है, जब देश की अनेक अदालतों समेत सुप्रीम कोर्ट तक ने खाप पंचायतों के वजूद को गैर कानूनी बता रखा है।

ऐसे में यहां स्वाभाविक रूप से दो सवाल पैदा होते हैं। पहला सवाल यह है कि सुप्रीम कोर्ट के आदेश और कानून के लंबे हाथ होने के बावजूद ऐसे फतवों पर रोक क्यों नहीं लग पा रही है? दूसरा सवाल है कि ऐसे फतवे देने वालों को यह क्यों नहीं महसूस होता कि वे कोई गलत काम कर रहे हैं? हमने विगत में देखा है कि खाप पंचायतों को अपनी मर्जी से शादी करने वाले अपने ही बेटे-बेटियों की हत्या तक का फरमान जारी करने में भी कोई गुरेज नहीं रहा है। आखिर उनके मन में ऐसे कृत्यों (कु) से ग्लानि क्यों नहीं पैदा होती? दरअसल, खाप पंचायतों का वजूद और उनके मनुष्यता विरोधी कार्यकलापों को अपनी जाति के लोगों का व्यापक समर्थन प्राप्त रहता है और कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस कार्य को व्यापक

सामाजिक समर्थन प्राप्त रहता है, वह मनुष्यता विरोधी और गैर कानूनी होते हुए भी जारी रहता है। इसे दहेज के उदाहरण से समझा जा सकता है। सभी जानते हैं कि दहेज लेना और देना दोनों गलत है। इसके खिलाफ कानून भी बना है लेकिन इसके बावजूद दहेज प्रथा न सिर्फ कायम है, बल्कि बढ़ती ही जा रही है। सामाजिक समर्थन कानून को पंगु बना देता है, लोग उसकी परवाह करना छोड़ देते हैं। खाप पंचायतों के मामले में यही सच है। जहां तक खाप पंचायत के संचालकों के मन में अपने किए के लिए किसी पश्चाताप या ग्लानि नहीं होने की बात है, तो इसका कारण भी मूल रूप से उनके कार्यों को मिलने वाला व्यापक सामाजिक समर्थन ही है। इस तथ्य को हम दंगों के उदाहरण से समझ सकते हैं। हम सभी जानते हैं कि दंगा करना या सांप्रदायिक विद्वेष पैदा करना गलत है, लेकिन दंगाइयों के मन में अकारण हत्या करने के बावजूद कोई ग्लानि नहीं होती, बल्कि इसके विपरीत उन्हें लगता है कि निरपराध लोगों की हत्या कर उन्होंने कोई अपराध नहीं, बल्कि कोई महान काम किया हो। इसका कारण यह है कि उनका अपना-अपना समाज उनके कुकृत्यों को समर्थन देकर वाजिब ठहरा देता है। उनका अपना-अपना समाज उन्हें अपराधी नहीं बल्कि हीरो समझता है। ऐसे में उनके मन में कहां से और कैसे ग्लानि बोध पैदा हो सकता है। दुखद आश्चर्य तो यह है कि हमारे देश के रहनुमा भी इन फतवों के खिलाफ खड़ा होने के विपरीत उन्हें समर्थन देते नज़र आते हैं, जबकि उनका यह उत्तरदायित्व बनता है कि वे इन गैर कानूनी और मनुष्यता विरोधी फतवों की जमकर मुखालफत करें। दरअसल, वे ऐसे फतवों के खिलाफ इसलिए खड़े होने की हिम्मत नहीं जुटा पाते कि उन्हें इस बात का डर होता है कि यदि उन्होंने विरोध किया तो चुनाव में लोग उनका समर्थन नहीं करेंगे। यानी सत्ता के हाथ से निकलने का डर ही उनके हाथ बांध देता है। ऐसे नेताओं को तो नेता कहना ही नेता शब्द का अपमान है। नेता तो वह होता है, जो नेतृत्व प्रदान करे और यदि जनता किसी गलत का समर्थन कर रही हो तो उसके विरोध में खड़ा हो, लेकिन यहां तो नेता कुर्सी जाने के भय से इतने भयभीत हैं कि वे गलत का विरोध करने में भी हिचकते हैं, बल्कि कई बार तो गलत को ही समर्थन देते नज़र आते हैं।

पुलिस और प्रशासन के लोग भी अपने मन में इन फतवों को नज़रअंदाज़ करने का भाव रखते हैं। दरअसल,

वे भी उसी समाज का हिस्सा होते हैं, जहां स्त्रियों को पुरुषों के मुकाबले कमतर समझने की मानसिकता हावी है। जैसा समाज होता है, वैसा ही उसका नेतृत्व और शासन व्यवस्था भी होते हैं। भारतीय समाज जात-पात, संप्रदाय, धर्म और लिंग जैसे भेदभावपूर्ण आचरण से युक्त समाज है। यही कारण है कि पुलिस-प्रशासन का संचालन भी भेदभावपूर्ण होता है। कौन नहीं जानता कि हमारे लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था के संचालकों के आचरण में भी उनकी प्राथमिक वफादारियां परिलक्षित होती रहती हैं।

वास्तव में बागपत की खाप पंचायत का फतवा मर्दवादी सोच का ही एक विकृत नमूना है। इस सोच का दायरा औरतों के भूगोल तक ही सीमित रहता है। मर्दवादी यौन-शुचिता का दुराग्रह और जातीय श्रेष्ठता की उनकी अहमक समझदारी उनके वैचारिक और व्यावहारिक फलक का विस्तार नहीं होने देते। यही कारण है कि कन्या-भ्रूण हत्या जैसे अपराध को लेकर उनके मन में कोई हलचल नहीं मचती, महिलाओं का शोषण और उनके साथ होने वाले बलात्कार उन्हें व्यथित, आक्रोशित नहीं करते, लेकिन यदि किसी लड़की ने अपनी इच्छा से अपने जीवन साथी का चुनाव कर लिया तो उनके ऊपर बिजली टूट पड़ती है, आसमान फट पड़ता है। दिलचस्प है कि खाप पंचायत के संचालकों को बेटियों के पढ़ाई करने या नौकरी कर घर में पैसा लाने से कोई गुरेज नहीं है, लेकिन जैसे ही लड़कियां अपनी जिंदगी से जुड़े फैसले लेने के लिए आगे बढ़ती हैं तो उनकी भौहें तन जाती हैं और यदि स्थिति हाथ से निकलने की आशंका हो तो जातीय श्रेष्ठता के वे कैदी अपनी ही संतान को मौत के घाट उतारने से भी परहेज नहीं करते। यह महज संयोग नहीं हो सकता कि देश के जिन हिस्सों में खाप पंचायत का वजूद है, उन्हीं इलाकों में लड़के-लड़कियों का अनुपात भी सबसे ज्यादा गड़बड़ है यानी लड़कों के मुकाबले लड़कियों की संख्या काफी कम है। इससे जाहिर है कि इन इलाकों में लड़कों की तुलना में लड़कियों की संख्या कम होने और जातीय खाप पंचायत के कायम रहने में कोई न कोई तार्किक संबंध ज़रूर है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश और हरियाणा के कई गांवों को तो 'द्रोपदी का गांव' कहा जाता है, क्योंकि वहां एक ही लड़की से एक से ज्यादा भाई विवाह कर लेते हैं। गंभीर बात यह है कि यह लड़की भी स्थानीय नहीं होती, बल्कि पूर्वोत्तर, बिहार, उड़ीसा या झारखंड से खरीद कर लाई जाती है।

अजीब तो यह है कि ऐसी लड़कियों के जाए तो समाज का हिस्सा बन जाते हैं, लेकिन जन्म देने वाली औरत को ताउम्र कोई सामाजिक हैसियत प्राप्त नहीं होती। धन बचाने में ऐसी लड़कियां उनके बहुत काम आती हैं। खाप पंचायत की नज़र में हिंसा और हत्या अपराध नहीं होते, बल्कि अपराध होता है प्यार करना, अपने मनमाफिक जीवन साथी का चुनाव करना। यहां सोचने की बात यह है कि आखिर ऐसा होता क्यों है।

दरअसल, यह हमारे लोकतंत्र की विफलता है और इस विफलता का कारण यह है कि देश की शासन व्यवस्था के लिए तो हमने लोकतांत्रिक संस्थाओं और सिद्धांतों का वरण किया, किंतु सामाजिक स्तर पर इसके विस्तार के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि शासन व्यवस्था और समाज के बीच कोई सार्थक लोकतांत्रिक संवाद की ज़रूरत ही नहीं समझी गई। कानून और संविधान के सामने तो सभी को समान मान लिया गया लेकिन सामाजिक स्तर पर पुराना भेदभावपूर्ण व्यवहार जारी रहा। शासन के परिचालन और नीतियों के निर्माण में लोकतंत्र और धर्म निरपेक्षता का खयाल रखा गया किंतु समाज को अपने हिसाब से चलते रहने के लिए छोड़ दिया गया। परिणामस्वरूप समाज में लोकतांत्रिक चेतना की पैठ नहीं हो सकी और उसकी जातीय, धार्मिक, सांप्रदायिक और पुरुष वर्चस्व की चेतना ज्यों की त्यों रूढ़ बनी रही। चुनाव को ही लोकतंत्र का पर्याय मान लिया गया। इसके बावजूद लोकतांत्रिक चेतना अपनी तरह से काम करती रही। यहां इस बात का उल्लेख करना समीचीन होगा कि मीडिया के विस्फोट ने लोकतंत्र के लिए जगह बनाई है। आज के युवा-युवती मोबाइल और इंटरनेट के ज़रिये एक-दूसरे के संपर्क में आ रहे हैं, जिसे रोकना अब किसी भी अभिभावक के लिए संभव नहीं रह गया है। खाप पंचायतें चाहें लाख फतवा जारी करें, लोकतंत्र की इस हवा को रोकना उसके वश में नहीं रह गया है। आज यदि युवक-युवतियां अपनी मर्जी से अपने जीवन साथी का चुनाव कर रहे हैं, तो इसकी सराहना की जानी चाहिए न कि इसका विरोध किया जाना चाहिए। प्यार का यह प्रचलन जातीय जकड़न को भी कमजोर करेगा, जो लोकतंत्र की सफलता के लिए अति आवश्यक जान पड़ता है। यदि हम उम्मीद करते हैं कि प्रेम विवाह जाति मिटाने में कारगर भूमिका निभा सकता है, तो कोई गलत उम्मीद नहीं करते। खाप पंचायतों के फतवे भी नकारा साबित होंगे।

# कैसे निर्मित हो बच्चियों की महफूज दुनिया!

■ अंजलि सिन्हा

इलाहाबाद राजकीय अनाथालय में बच्चियों के साथ यौनहिंसा के मामले की चर्चा अभी जारी ही थी कि गुडगांव अनाथालय का मामला प्रकाश में आ गया है। और हम इस कड़वी हकीकत से रूबरू हैं कि समाज में छिपे ऐसे दरिंदों को पहचानने और उन पर पहले ही काबू पा लेने में लगातार असफलता हाथ लग रही है। गुडगांव के वजीराबाद गांव में एक स्वयंसेवी संस्था 'सुपर्णा का आंगन' द्वारा संचालित एक अनाथाश्रम में 20 बे-सहारा बच्चियां रहती थीं। इनमें से 5 लड़कियों को यहीं के चौकीदार ने अपनी हवस का शिकार बनाया। 8 से 12 साल के बीच की 5 लड़कियों का मेडिकल परीक्षण हुआ जिसमें बलात्कार की पुष्टि हो गयी है। जानकारी के मुताबिक संस्था की संचालिका एवं अपराधी चौकीदार को पुलिस ने गिरफ्तार किया है। पुलिस की प्रारम्भिक जांच में यह भी पता चला है कि यह अनाथाश्रम बिना अनुमति के चलाया जा रहा था।

गांव के सरकारी कन्या विश्वविद्यालय में सभी बच्चियां पढ़ती थीं। मालूम हो कि अनाथाश्रम में जारी इस अत्याचार से परेशान इन लड़कियों ने अपनी आपबीती अपने टीचर को बतायी। अध्यापिका निशा की प्रशंसा जरूर की जानी चाहिए जो अपने साथ इन बच्चियों को लेकर थाने चली गयी। अपने इस टीचर को बच्चियों ने बताया कि रचित (22 वर्षीय केयरटेकर) की शिकायत उन्होंने संचालिका मैडम से की थी तो उन्होंने डांट कर भगा दिया था। दो बच्चियों ने बताया कि रचित ने एक साल पहले भी उनके साथ ऐसा ही किया था तो मैडम ने उसे नौकरी से निकाल दिया था। पर 15 दिन पहले वह फिर आ गया। इन 15 दिनों के बीच में दो बार कमरा बन्द करके बलात्कार किया और किसी को बताने पर जान से मारने की धमकी दी थी। सहज अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि 8 से 12 साल के भीतर की ये लड़कियां कितनी हिम्मत जुटाकर अपनी टीचर को बता पायी होंगी। मैडम निशा ने डीसीपी को बताया कि उन्होंने एक बच्ची के गाल पर निशान देखा और उससे पूछा

तब जाकर चौकीदार की हरकत का पता चला।

इलाहाबाद के राजकीय अनाथालय की घटना इसी किस्म की है। पिछले माह ही इलाहाबाद के शिवकुटी थाना क्षेत्र की तीन बच्चियों को चौकीदार विद्याभूषण औझा ने अपनी हवस का शिकार बनाया। फर्क यही है कि यहां की अधीक्षिका उर्मिला गुप्ता ने ही इसकी शिकायत पुलिस में दर्ज करायी। लेकिन उनकी ड्यूटी के दौरान दिन में ही चौकीदार अपना कारनामा करता रहा और उन्हें पता नहीं चला। जब एक लड़की उनके पास शिकायत लेकर आयी तब उन्होंने मेडिकल के लिए भेजा। ज्ञात हो कि इस मामले का तो खुलासा होता ही नहीं यदि यहां से एक बच्ची को गोद लेने वाले दम्पति ने यह पहल न की होती। बच्ची को गोद लेने के बाद बच्ची ने अपने अभिभावक से बालगृह के चौकीदार के बारे में बताया तब उस दम्पति ने इसकी शिकायत बालगृह की अधीक्षिका से की थी। अधीक्षिका उर्मिला ने कहा कि बच्चियों ने उनसे इसकी शिकायत नहीं की थी। दस वर्ष से कम उम्र की बच्चियों को क्या वह चौकीदार नहीं धमकाता होगा? किसका सहारा पाकर किससे शिकायत करती? 42 बच्चों में 17 बालिकाएं थी। दिनभर की ड्यूटी अधीक्षिका की थी यहां। यदि वे बच्चियों के साथ घुली-मिली होतीं और बच्चियों का उन पर भरोसा बना होता तो वे क्यों नहीं घटना की जानकारी उन्हें देती?

अभी कुछ माह पहले ही दिल्ली का आर्य अनाथालय इसी किस्म की घटनाओं से सुर्खियों में था। दरअसल यहां रहने वाली एक छात्रा की अचानक मौत होने के बाद पता चला कि उसके साथ यौन अत्याचार का सिलसिला चला था, फिर अखबारों में हंगामा होने के बाद सरकार की तरफ से जांच की गयी थी।

इलाहाबाद, गुडगांव या दिल्ली की ये घटनाएं इसी साल पहली बार सिर्फ इन्हीं राज्यों से नहीं आयी हैं। कुछ साल पहले तमिलनाडु से संचालित एक आश्रम की खबर थी कि वहां से बच्चियों को आश्रम से बाहर देह व्यापार के लिए

मांग के आधार पर भेजा जाता था। दरअसल देशभर में सरकारी, गैरसरकारी सभी अनाथाश्रमों की ठीक से तहकीकात किए जाने की ज़रूरत है। जांच तो होती है लेकिन वह महज खानापूति होती है। ऐसी यौनिक हिंसाओं के अलावा भी यहां के बच्चों का भविष्य ठीक से संवर नहीं पाता है। यदि किसी सही व्यक्ति/दम्पति ने उन्हें गोद लिया तब तो ठीक है वरना शायद ही स्नेह/प्यार की भाषा भी वे सुन पाते होंगे।

वैसे देखा तो यह भी जाना चाहिए कि निःसन्तान दम्पतियों को गोद लेने के लिए सालों का इन्तजार क्यों करना पड़ता है। गोद लेने की इच्छा रखने वालों की सूची लम्बी बतायी जाती है फिर क्या वजह है कि बच्चों का बचपन अनाथआश्रम में ही बीत जाता है। यह सही है कि गोद लेने वाले भी सही हैं या नहीं इसका कोई ठिकाना नहीं है लेकिन उसकी जांच पड़ताल ही तो उपाय है और पड़ताल में इतना समय क्यों लग जाता है?

दरअसल इस पूरे मामले में जितनी संवेदनशीलता और सरोकार की ज़रूरत है उसकी कमी पड़ गयी है और मामला शासकीय फाइलों में उलझा पड़ा रहता है। किसके पास समय है उसे जल्दी संज्ञान में लेने के लिए?

इन अनाथाश्रमों की दुर्दशा के साथ ही देशभर में चलने वाले नारी निकेतनों का हाल भी कम बुरा नहीं है। यहां से बलात्कार जैसी घटना की खबर भले नहीं आती होगी लेकिन यहाँ ऐसी घटनाओं के शिकार तथा दूसरे अन्य प्रकार के पीड़िताओं को भी भेजा जाता है। यहाँ का वातावरण भी एक जेल है। नारी निकेतन या महिलाओं के लिए चलने वाले शेल्टर होम्स में सुरक्षा के नाम पर कैदी की तरह रखे जाते हैं। ऐसे कितने ही दुराचार जो रोज़-रोज़ होते हैं लेकिन खबर नहीं बनते। उसकी मुक्ति का क्या उपाय है, कौन लोग उसकी चिन्ता करेंगे और वे अपनी मुहिम को सफल, सशक्त कैसे बनायेंगे यह विचार करने की ज़रूरत है।

**देशभर में सरकारी, गैरसरकारी सभी अनाथाश्रमों की ठीक से तहकीकात किए जाने की ज़रूरत है। जांच तो होती है लेकिन वह महज खानापूति होती है। ऐसी यौनिक हिंसाओं के अलावा भी यहां के बच्चों का भविष्य ठीक से संवर नहीं पाता है। यदि किसी सही व्यक्ति/दम्पति ने उन्हें गोद लिया तब तो ठीक है वरना शायद ही स्नेह/प्यार की भाषा भी वे सुन पाते होंगे। वैसे देखा तो यह भी जाना चाहिए कि निःसन्तान दम्पतियों को गोद लेने के लिए सालों का इन्तजार क्यों करना पड़ता है। गोद लेने की इच्छा रखने वालों की सूची लम्बी बतायी जाती है फिर क्या वजह है कि बच्चों का बचपन अनाथआश्रम में ही बीत जाता है।**

एक तीसरा महत्वपूर्ण पहलू यह सोचने का बनता है कि किसी भी तरह से ऐसे काम कल्याण या सेवा की मानसिकता से नहीं चलना चाहिये। जो कोई व्यक्ति या संस्था दया करना चाहे तो उसके परमार्थ के रूप में ज़रूरतमन्दों की ज़रूरतें पूरी नहीं हो बल्कि सभी आश्रयगृह जिसमें किसी भी असहाय या वृद्ध को जाना हो तो वह उसके नागरिक अधिकार के तौर पर मिले न कि दानखाते के रूप में। यद्यपि कई संस्थाओं को सरकार स्वयं ही अनुदान देती है जो लोगों को बतौर सेवा उपलब्ध कराया जाता है लेकिन सरकार को इस बहुत बड़े अन्तर को समझना होगा कि सरकारी राशि का खर्च लोगों के ऊपर कृतज्ञता के रूप में खर्च होता है जबकि सरकार को लोग चुन कर बनाते हैं जिसकी जिम्मेदारी है कि वह उन सारे कामों को स्वयं करें जो नागरिक और व्यक्तिगत अधिकार की श्रेणी में आता है।

इस पर भी सोचने की ज़रूरत है कि विकसित से विकसित समाज में आश्रयस्थलों का निर्माण एक मजबूरी नहीं आवश्यकता होगी। सवाल यही तय करने का है कि उसका संचालन कौन करे? क्या उसे कारोबार के अन्य हिस्सों की तरह देखा जाए या सरकार खुद अपनी जिम्मेदारी समझ कर इनका संचालन करे। कोई भी आश्रयस्थल चाहे वृद्धों का हो, अनाथों का हों, मानसिक या शारीरिक रूप में चुनौतीपूर्ण अवस्था वालों के लिये हो या मुसीबत की मारी महिलाओं के लिये हो, यह जो कमजोर हालात के होते हैं या जिनका कोई आधार न हो, निश्चित ही यह काम किसी कारोबार का हिस्सा नहीं हो सकता तथा सरकार के लिये यह ज़रूरी जिम्मेदारी बनती है कि वह किसी निजी या स्वयंसेवी संगठन के कंधों पर जिम्मेदारी डाल कर मुक्त नहीं हो सकती है।

(लेखिका स्त्री अधिकार संगठन से सम्बद्ध हैं एवं दिल्ली विश्वविद्यालय के सत्यवती कॉलेज में कौन्सिलर के पद पर कार्यरत हैं।)



## गरीब बस्तियों में चिथड़ा-चिथड़ा जीवन

■ आदियोग

हमारे गांवों में दक्षिण टोला होता है जहां दलित रहते हैं, जो अमूमन फटेहाल होते हैं। प्रोपर्टी डीलरों की मेहरबानी से बड़ी जमीन के मालिक जैसे वाले हो गये और मुख्य गांव की सूरत बदल गयी, तो डूडा की मेहरबानी से दलित बस्ती में भी थोड़ी बहार आयी। कच्ची गलियां और नालियां पक्की हो गयीं...

तुम्हारे शहर में खानाबदोश रहना क्या मैं बेनिशान हूं कोई निशान हो जाये सड़क हो नाला हो कि फुटपाथ के तले मैं चाहता हूं अपना मकान हो जाये।

—तश्ना आलमी

मैं दोस्तों का कहा नहीं टालता और मेरे दोस्त भी मुझे फालतू किस्म के कामों में नहीं उलझाते। संजय विजयवर्गीय खेती की बिगड़ती सेहत से लेकर भूख, गरीबी और पलायन जैसे सवालियों की रोशनी में सरकारी नीतियों की चीरफाड़ करने के लिए जाने जाते हैं। कोई डेढ़ माह पहले, बीच फरवरी में किसी शाम अचानक उन्होंने कहा कि तैयार रहिये, कल शहर की कुछ गरीब बस्तियों का हालचाल लेने चलना है। दोस्त कहें तो नानुकुर करने की गुंजाइश नहीं होती। तो जैसा तय हुआ, अगले दिन मैं उनके साथ निकल पड़ा। हमारे गाइड थे विज्ञान फाउंडेशन के अविनाश। हमने दो दिन शहर के चक्कर लगाये। हम उन बस्तियों में घूमे जहां इससे पहले मैं कभी नहीं गया था और ना ही उनके बारे में कुछ सुना था। इरादा था कि इस सफर के अनुभव को कलमबंद किया जाना है। वह इरादा अब कहीं जाकर पूरा हुआ और वह भी संजय भाई के खटखटाने पर।

उस सफर में मैं खाली हाथ था, न कागज-कलम और न कैमरा। इस दौरान जिनसे मुलाकात हुई, उनके नाम जेहन से उतर गये, उनके चेहरे धुंधले पड़ गये लेकिन नज़रों में उतर गये उस सफर की तस्वीरें आज भी तरोताजा हैं। दो दिन की इस घुमक्कड़ी में जो जाना-समझा और महसूस किया, उसे भुलाया नहीं जा सकता। उसे लफ्जों में बांधा जाये तो बेशक कहा जा सकता है कि यह हद दर्जे की गरीबी में लिपटा बदहाली और बेबसी का वह अनसुना दस्तावेज है जो लखनऊ के दमकते चेहरे पर गरीब-गुरबों की लानतों और आहों का झन्नाटेदार झापड़ रसीद करता है।

अब इसे कौन पढ़े, उसकी मार सहे और उस पर

तिलमिलाये? मेरी मुराद सूबे की सरकार चलाने वालों, सत्ता के गलियारे में चहलकदमी करने वालों, जनता की नुमाइदगी करने वालों, शहर के विकास की योजनाएं बनाने वालों, लखनऊ की नजाकत और नफासत पर इतराने वालों, अखबारों और खबरिया चैनलों के लिए खबरें बटोरने वालों, सामाजिक भले का दम ठोंकते हुए संस्थाएं चलाने वालों से है और खुद से भी है।

पता नहीं कि लखनऊ शहर गांवों को निगलता हुआ कितना फैल रहा है और कितना पगलाये गुब्बारे की तरह फूल रहा है। यह बहस आपके हवाले। फिलहाल, सफर पर निकलते हैं।

चौक के आगे ठाकुरगंज और तब बालागंज- कभी शहर का आखिरी छोर हुआ करता था। बालागंज के आगे दुबग्गा का गंवई बाजार पड़ता था। यह काकोरी जाने के रास्ते पर है। कभी बालागंज और दुबग्गा के बीच का लंबा रास्ता पेड़ों की छांव में सुनसान पड़ा रहता था और उसके दोनों ओर दूर तक हरियाली का राज था- सड़ी गर्मी में साइकिल से निकलो और मजाल कि लू पास फटके। अब इस पर भीड़-भड़क्का रहता है- अस्पताल, होटल-लाज, कालोनियां और दुनिया भर के सामानों की दुकानें सब कुछ है। इस चुंधियाते विकास ने हरियाली को चट कर डाला। शहर अब तो दुबग्गा के आगे भी अपने पांव पसार रहा है। कोई तीस साल पहले तक मलिहाबाद तहसील के बाजपुर गांव के ज्यादातर वाशिंगों को इल्म नहीं था कि आज़ादी के इतिहास में यह जगह कितना अहम मुकाम रखती है, कि क्रांतिकारियों ने यहीं काकोरी रेल डकैती कांड को अंजाम दिया था। उसके मुकदमे का फैसला जिस आलीशान इमारत में हुआ था, उसे आज हम जीपीओ के नाम से जानते हैं जिसके माथे पर बिंदी की तरह लगी घड़ी की टिक-टिक आज भी जारी है। ठीक पीछे विधानसभा और सामने हजरतगंज का इलाका। तब से बहुत कुछ बदल गया- हजरतगंज की सूरत और सीरत भी। अब भीड़ है, भगदड़ है, गाड़ियों का रेला है, पेट्रोल का दमघोटू धुंआ है, गर्म जेब वालों के लिए उम्दा बाज़ार है। वैसे, नवाबी दौर में हजरतगंज का इलाका शहर के शोरोगुल से दूर सूफियों का बसेरा हुआ करता था। खैर, यह ना जाने कब से शहर का दिल हो चुका है। पुराने लखनऊ में यह रुतबा चौक का हुआ करता था और वो भी कहां वही चौक रहा।

वापस बालागंज चौराहे पर लौटें। यह चौराहा पहले कभी दिन में भी अलसाया सा रहता था, अब रात में भी जागता रहता

है, बहुत मसरूफ रहता है। बाजपुर में क्रांतिकारी शहीदों की याद में स्मारक बना, उनकी मूर्तियां लगीं और उनकी शहादत के मौके पर हर साल 19 दिसंबर को सरकारी और गैर-सरकारी जल्सों की शुरुआत हुई। बालागंज चौराहे तक इसका असर दिखा। शहीदों के नाम पर मार्केटिंग कॉम्प्लेक्स खड़ा हो गया। आखिर शहीदों को याद किये जाने का बाज़ारू नुस्खा भी होता है जिसमें शहीद अशफाक उल्ला खां और रामप्रसाद बिस्मिल जैसे नाम भी बाज़ार के हत्थे चढ़ जाते हैं।

तो अब बालागंज चौराहे से कैपवेल रोड़ पकड़ें, चलते जायें और बरौरा हुसैनवाड़ी पहुंचे। पहले यह गांव था, अब शहरी इलाकों में आता है। प्रोपर्टी डीलरों ने थोक के भाव गांव से सटी ज़मीन खरीदीं और उसके प्लॉट शहरियों को बेच दिये। इनमें खाते-पीते लोग भी थे और गरीब भी। तो गांव की नयी बस्ती में दो बस्तियां हैं- इक बस्ती पैसे वालों की और दूजी गरीबों की। अब इसमें अचरज कैसा कि अमीर बस्ती की ज़मीन ऊंची है जबकि गरीब बस्ती की ज़मीन नीची है और जो पाट दिये गये पुराने तालाब पर है।

आप जानते हैं कि हमारे गांवों में दक्षिण टोला होता है जहां दलित रहते हैं और जो अमूमन फटेहाल होते हैं। प्रोपर्टी डीलरों की मेहरबानी से बड़ी जमीन वाले पैसे वाले हो गये और मुख्य गांव की सूरत बदल गयी तो डूडा की मेहरबानी से दलित बस्ती में भी थोड़ी बहार आयी- कच्ची गलियां और नालियां पक्की हो गयीं। यह बस्ती खत्म होती है कि तालाब तक जाने के लिए सीढ़ियां हैं और जिससे उतरते ही बीच शहर से आकर बसे गरीबों की बस्ती शुरू हो जाती है। यहां ज़मीन की ऊंचाई के हिसाब से लोगों की हैसियत है। जो तलछटी में हैं, वे सबसे गरीब हैं। बस्ती के सामने खुला मैदान है और उस पार सबसे ज्यादा धनवानों की बस्ती।

दो साल पहले तक यह मैदान गुलजार रहता था। बच्चे-नौजवान क्रिकेट खेलते थे, धमाचौकड़ी मचाते थे। तालाब मैदान बना तो उसके बीचों-बीच अंबेडकर साहब की मूर्ति भी लग गयी- कोट, पैट, टाई में, एक हाथ में संविधान की किताब और दूसरा हाथ उठा हुआ। दलितों को अंबेडकर जयंती मनाने की अच्छी जगह मिल गयी। लेकिन दो साल से यह सिलसिला बंद है। क्यों? क्योंकि खुले मैदान का बड़ा हिस्सा दोबारा तालाब में बदल रहा है। अंबेडकर साहब की मूर्ति तक कौन पहुंचे और कैसे? मैदान दोबारा तालाब बन चुका है और जिसमें सड़ता हुआ पानी है- गरीब बस्ती को घेरता हुआ कि घरों से निकलना दूभर, घरों की दीवारों को सीलन से भिगोता कि रहना मुश्किल। ऊपर से पतली गलियों में कई घरों के सामने सेफ्टी टैंक के उठे हुए टीले। मुनाफे के लुटेरों ने बस्ती तो बसायी लेकिन पानी की निकासी का बंदोबस्त करना ज़रूरी नहीं समझा। ताजा हाल यह कि इस बस्ती के अलावा अमीर बस्ती और दलित बस्ती के घरों

से भी निकलने वाला गंदा पानी मैदान में जमा होता है और गरीब घरों की दहलीज को 'धोता' है।

गरीब बस्ती में पीने का पानी भी खूब रुलाता है। पानी मिलने का कोई समय तय नहीं। इक्का-दुक्का हैंडपंप हैं तो वे भी ज़मीन की सतह से नीचे, एक हैंडपंप तो ठीक तालाब के किनारे और गंदगी के ढेर में। गलियों के जाम हो चुकी सीवर लाइन के साथ-साथ पीने का पानी ढोते पाइप और वह भी प्लास्टिक के। कुल मिला कर पीने के पानी के खराब होने की पूरी गारंटी, रोग-बीमारियों को भरोसेमंद न्यौता।

जनपक्षधर पत्रकारिता को मजबूती देने की सोच रखने वाले नए-पुराने पत्रकार और पत्रकारिता की पढ़ाई करने वाले छात्र पिछले कुछ महीनों में जनज्वार के साथ विभिन्न स्तरों पर जुड़े हैं। उनमें से कई, खासकर पत्रकारिता की पढ़ाई करने वाले या हाल ही में पत्रकार बने पूछते हैं कि अच्छी रिपोर्टिंग कैसे की जाये। जाहिर है अच्छी रिपोर्टिंग के तमाम मानक हो सकते हैं, लेकिन मौके से लौटकर जो रिपोर्ट आदियोग ने लिखी है, उसे जनज्वार एक उदाहरण के तौर पर रखना चाहेगा। उनके इस लिखे में अमेरिकी उपन्यासकार अष्टन सिंक्लेयर के 'जंगल' की साफ छवि दिखती है। आदियोग पेशे से पत्रकार नहीं हैं, कला और सामाजिक कामों से जुड़े हैं, इसलिए उनके लिखे के विस्तार को अतिरिक्त कहा जा सकता है, लेकिन इसी के साथ वो साबित भी करते हैं कि अच्छी रिपोर्टिंग पत्रकारिता संस्थानों की मोहताज नहीं।

पुराने लखनऊ में बर्फखाने का इलाका बेहद घना है। उससे बाहर निकलें तो गोमती नदी का बंधा शुरू हो जाता है। इसके किनारे गरीब रहते हैं। ऐसी ही एक बस्ती कोई बीस साल पहले बसायी गयी थी। यहां-वहां से पहले गरीबों को उजाड़ा गया और फिर इस कोने में लाकर पटक दिया गया। कब्रिस्तान से सटी यह ज़मीन पहले तालाब थी और फिर कूड़े-कचरे का भंडार बन गयी। पहले यहां सुअर-कुत्ते डोलते थे, अब इनसान नाम के शरीर रहते हैं। गरीबी जो ना कराये थोड़ा। तो इस तलैया में जिसे जहां और जैसी जगह नसीब हुई, उसने अपना डेरा जमा लिया।

इस बस्ती में कहीं कोई शौचालय नहीं। गोमती का बंधा है न खुला शौचालय। पुराने कब्रिस्तान की दीवार खासी चौड़ी है और जिससे गुजरे जमाने की शान झलकती है। यह दीवार बस्ती और कब्रिस्तान को अलग करती है। दीवार के इस पार चौड़ा-गहरा नाला है। यह नाला रात के अंधेरे में सार्वजनिक शौचालय हो जाता है। इस नाले पर भी पांच-छह घरोंदे हैं- मुख्य गली को थोड़ा और संकरा करते हुए। यह उन बदकस्मितों के घर हैं जो आशियाने की तलाश में यहां बहुत देर से पहुंचे थे और तब तक पूरी बस्ती भर चुकी थी। उन्हें नाले पर जगह मिली। मुफलिसी में यही क्या कम है कि इधर-उधर से जुटायी

गयी बांस की खपच्चियों, टाट और पन्नियों से रहने की जगह निकल आयी, सर पर छत हो गयी। सुविधा यह कि कमरे के बगल में उसी आसानी से अपना शौचालय भी बन गया। इसमें करना ही क्या था? नाला था ही, बस आड़ ही तो खड़ी करनी थी। यह अलग बात है कि जिम्मेदार कर्मचारी जब भी बस्ती के दौरे पर आते हैं, इस अतिक्रमण पर आंख तरेरते हैं। उन्हें ठंडा रखने के लिए चिरौरी करनी पड़ती है। हालांकि बाकी बस्तीवालों को इन अस्थाई 'घरों' से कोई दिक्कत नहीं। इस गरीब बस्ती की वे सबसे कमजोर कड़ी हैं और मुसीबतों के मारे अपने जैसों की मजबूरियां बिन कहे समझते हैं। पहुंचे हुए फकीरों ने आखिर यों ही नहीं कहा कि दुखियारों को उनके दुख जोड़ते हैं। यह साझेदारी बहुत बड़ी चीज है लेकिन जो खुद सरापा दुख में भीगा हो, वह दूसरों का दर्द कितना सुखा सकता है?

कहने को कह सकते हैं कि बस्ती में बाकायदा नालियां हैं लेकिन बजबजाती हुई और उसी नाली से गुजरते हैं पीने के पानी के पाइप- अल्युमिनियम के नहीं, प्लास्टिक के और उसमें भी जगह-जगह जोड़ के निशान। अगर तार-तार कथरी पर पैबंद टांक कर काम चलाया जा सकता है तो पानी के पाइप पर कपड़ा या पन्नी लपेट कर क्यों नहीं। लखनऊ नगर महापालिका के जिम्मेदारों का शायद यही सोचना है। वैसे, बस्ती के दो कोनों पर ईंट-सीमेंट की मचान बना कर प्लास्टिक की टंकियां भी सजायी गयीं लेकिन उनमें पानी पहुंचाने जैसी जुगत कभी नहीं हुई। उसके ढक्कन न जाने कहां बिला गये। मिल भी जायें तो क्या, कट-फट चुकी टंकियां अब कम से कम पानी रखने लायक नहीं रहीं। ऊंचे मचान पर जमी हुई अपनी किस्मत को जैसे कोसती सी दिखती हैं।

बस्ती में जिंदा लोग रहते हैं और उसकी सरहद के उस पार कब्रिस्तान में मुर्दे सोते हैं। यहां हलचल है और वहां खामोशी। यहां रोजाना की हाय-तौबा है, खिचखिच है और वहां सालोंसाल केवल बेफिक्री। लेकिन यह बस्ती भी किसी कब्रिस्तान से कम नहीं। देखना चाहें तो आसानी से देखा जा सकता है कि यहां चप्पे-चप्पे पर और हर चेहरे पर भी ना जाने कितनी पुरानी कब्रे हैं जिनमें जिंदगी को जिंदगी की तरह जिये जाने के मासूम सपने दफन रहते हैं- वे सपने जो कभी पैदा ही नहीं हुए और अगर कभी पैदा हुए भी तो जिंदगी की दुश्वारियों ने उन्हें पैदा होते ही मारा डाला। इसके लिए किसी सर्वे और आंकड़ों की ज़रूरत नहीं। नज़रें अगर साफ हों, सीने में धड़कता दिल हो और परत-दर-परत सोचने वाला दिमाग हो तो समझा जा सकता है कि उल्टे हालात ने यहां किस तरह इनसानी हैसियत में जिंदगी बसर करने के सपनों पर न देखे जाने की बंदिशें लगा रखी हैं।

तो भी कमाल है कि बस्ती में मुर्दनी नहीं छाती। हंसी-ठिठोली और चुहलबाजी का दौर चलता रहता है। गोया यह शेर पढ़ा जा रहा हो कि 'इस कदर सलीके से रंजो-गम सहा

जाये, हाल जब कोई पूछे मुस्करा दिया जाये।'

मिश्रीबाग का रुख करते हैं। इसकी चौड़ी लेकिन बेतरह ऊबड़-खाबड़ मुख्य सड़क के किनारे कोई तीस साल पुरानी गरीबों की बस्ती है- पतली गलियां और एक-दूसरे में झांकते घर माने कुल एक कमरा। इस दड़बे के बाहर बस इतनी जगह कि आधी चटाई बिछ जाये। ज्यादातर घरों की यही रसोई है। इस भीड़ भरे इलाके में एक सुलभ शौचालय। पांच सीटें मर्दों के लिए तो इतनी ही सीट औरतों के लिए। शौचालय की सुविधा सुबह छह बजे से रात नौ बजे तक। गोया इस टाइम टेबल के आगे-पीछे हगना मना हो।

अब पारा का हालचाल लेते हैं। यह राजाजीपुरम के विस्तार का फिलहाल आखिरी कोना है। फिलहाल इसलिए कि यहां से कुछ आगे तेज रफ्तार में कई बहुमंजिला इमारतें तैयार हो रही हैं। कोई 40 साल पहले बसायी गयी राजाजीपुरम कालोनी के बहुत आगे बसे और अब शहर में समा चुके नरपत खेड़ा गांव की सीमा खतम होती है कि पारा शुरू हो जाता है। और बस यहीं 2003 में डूडा ने गरीबों के लिए कालोनी बनायी थी। पारा में घुसने से पहले ही आप जान सकते हैं कि यहां पानी का बाज़ार कितना गर्म होगा, पानी बेचने का धंधा कितना चोखा होगा। सड़क किनारे पक्की कोठरी है और कोठरी में ज़मीन से पानी खींचने की मशीन है। कालोनी के बड़े हिस्से में पानी की सप्लाई यहीं से होती है। इसके लिए प्लास्टिक के पाइपों का जाल बिछा है। जिसे पानी चाहिए, अपने पाइप का इंतजाम करे और हर महीना डेढ़ सौ रुपये का भुगतान करे।

पाइपों का जाल नालियों के सहारे है और नालियां गंदगी से अटी पड़ी हैं। नालियों का गंदा पानी गलियों को छेकता रहता है। कालोनी की कई गलियां इस पानी से तालाब जैसी हो चुकी हैं। जाहिर है कि यहां भी पानी की निकासी का बंदोबस्त बहुत बिगड़ा हुआ है या कहे कि सिरे से नदारद है।

कालोनी में एक कमरे के घर हैं। कमरा क्या, उसे डिब्बा कहें। उससे जुड़ी रसोई और पीछे इतना पिट्टी आंगन कि उसमें एक चारपाई भी न आए। और हां, घर के दरवाजे से सटा पाखाना। कई घरों के पाखाने में झांका तो जी मितला गया- गंदगी से लबालब भरी सीट, बदबू का भभका और भिनभिनाते भुनगे-मच्छरों की फौज।

पता चला कि पांच साल पहले तक यह हालत नहीं थी। इस्तेमाल के बाद पाखाने में पानी झोंको कि सीट साफ। तब तक कालोनी के इक्का-दुक्का मकान ही आबाद थे। जैसे-जैसे कालोनी आबाद होती गयी, पाखानों की दुर्गति होती गयी। क्यों? कालोनी के बीच में खाली पड़ी सबसे बड़ी ज़मीन पर जिसे कायदे से पार्क बनाया जाना चाहिये था, सेफ्टी टैंक नाम का अजीबोगरीब टीला बना दिया गया गोया ऊबड़-खाबड़ कोई उड़न तश्तरी। यह पता नहीं किस डिजाइनर का कमाल था लेकिन

इससे बड़ा कमाल यह कि इस डिजाइन को हरी झंडी भी मिल गयी। सरकारी महकमे में इतने काबिल लोग होते हैं। बहरहाल, यह टीला किसी काम का नहीं निकला। इसने कुल काम किया तो बस इतना कि सीवर सिस्टम को ही चौपट कर दिया।

मौके का फायदा उठाने वाले कहां नहीं होते? तो सीवर की सफाई का धंधा भी चल निकला। सफाई कर्मचारियों ने सीवर लाइन को जाम कर उसे दो मकानों के बीच का सीवर टैंक बना डाला। अब हर 10-15 दिन बाद सफाई करवाने की ज़रूरत पड़ने लगी। हर बार हर घर से डेढ़ सौ रुपये की फीस भी तय हो गयी यानी एक बार की सफाई में दो घरों से तीन सौ रुपये की आमदनी पक्की। यह कचरा फिंकता कहां है? खाली पड़े मकानों में या कालोनी में जहां-तहां बनाये गये सीमेंटेड खुले डिब्बों में। भागमभाग में छोटे बच्चे उस पर चढ़ते हैं और अकसर उसमें धड़ाम हो जाते हैं, टट्टी-पेशाब में सन जाते हैं। महिलाएं कहती हैं कि इतनी दूर आकर हम बसे कि एक ही कमरा सही, कहने को अपना घर तो होगा। नहीं सोचा था कि अपने घर में रहना इतना महंगा साबित होगा।

सेफ्टी टैंक नाम की उड़न तश्तरी पर वापस लौटें। मैदान का लगभग आधा हिस्सा उसके कब्जे में है। मैदान में ही प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र की लकदक इमारत है जिस पर अमूमन ताला जड़ा रहता है। उसके खुले बरामदे में आवारा कुत्ते आराम करते हैं। मैदान में बाकी बची जगह शायद बच्चों के खेलने के लिए छोड़ दी गयी है। लेकिन कालोनी की गलियों की तरह यहां भी घरों से निकला गंदा पानी भरा रहता है और जिसमें बच्चे छप-छप भागने का मजा लूटते हैं।

अंदाजा लगाइये कि मई-जून की तीखी तपिश में और उसके बाद बरसात के मौसम में इन तमाम बस्तियों का आलम क्या होता होगा?

कोई 40 साल पहले दुश्यंत कुमार ने फरमाया था- 'कहां तो तय था चरागां हर एक घर के लिए, कहां चराग मयस्सर नहीं शहर के लिए।' यह शेर आज कहीं ज्यादा ताजा है। 1978 में दुनिया के तमाम देशों ने माना था कि सभी के लिए पीने का साफ पानी, शौचालय की सहूलियत और सुरक्षित वातावरण होना चाहिए, कि यह हर नागरिक का बुनियादी अधिकार है। नारा लगा- 2000 तक सबके लिए प्राथमिक स्वास्थ्य। उस जमावड़े में अपना देश भी शामिल था। लेकिन लगता है कि अपने यहां सरकारी वायदे, अहद और एलान महज अधूरा रहने या और आगे टल जाने के लिए होते हैं। नयी सदी भी आ गयी और यह नारा ज़मीन पर नहीं उतर सका। इसलिए 2002 की 10वीं पंचवर्षीय योजना में यह लक्ष्य हासिल किये जाने का संकल्प करना पड़ा। मियाद गुजर गयी और निकले वही ढाक के तीन पात। 2007 की 11वीं पंचवर्षीय योजना में एक बार फिर इसे दोहराना पड़ा। इसकी मियाद भी खत्म होने को है और संकल्प

पर अमल के निशान लगभग नहीं दिखते। अब 12वीं पंचवर्षीय योजना का इंतजार करिये। और उसके आगे भी इंतजार करते रहने के लिए तैयार रहिये।

सब जानते हैं कि गंदगी और अशुद्ध पानी डायरिया का खुला बुलावा होता है और डायरिया मौत की सवारी करता है। जाहिर है कि अमूमन मुफलिसों की बस्तियों पर हमला बोलता है और पहले से अधमरे लोगों की जिंदगी लीलता है। इस कदर कि असमय होने वाली मौतों में आधे से ज्यादा डायरिया के शिकार होते हैं। यह रफ्तार इतनी तेज है कि हर घंटे देश के 42 बच्चे अपनी पांचवीं सालगिरह मनाने से पहले डायरिया की फांसी पर चढ़ जाते हैं। इससे बड़ी राष्ट्रीय क्षति और कुछ नहीं हो सकती लेकिन उसे रोकने की चिंता और मुस्तैदी कागजों से बाहर नहीं आ पाती। क्या उलटबांसी है कि मौत के इस शोर के बीच हमारे सरकार बहादुर देश को आर्थिक रूप से दुनिया का महाबली बनाये जाने की जिद और हड़बड़ी में दिखते हैं। इस सच को ताक पर रख कर कि देश लोगों से मजबूत बनता है- विकास दर में बढ़त के आंकड़ों से नहीं।

मशहूर मर्सियागो मीर अनीस साहब खालिस लखनवी थे और अपने इस शहर पर जान छिड़कते थे। लेकिन न जाने क्यों और किस आलम में उन्होंने यह शेर भी कहा कि 'कूफे से नजर आते हैं किसी शहर के आदाब, डरता हूं वो शहर कहीं लखनऊ न हो।' कहा जाता है कि कूफे में हजरत मोहम्मद साहब के खिलाफ साजिश रची गयी थी और जिसने आखिरकार कर्बला को शहादतों का मैदान बना डाला। चौतरफा खून बहा, लाशों का ढेर लगा। छुरी-तलवारों से कहीं ज्यादा पानी ने कहर बरपाया और सबसे बेरहम हथियार साबित हुआ। झुलसाती रेत में पानी बहुत बड़ी नेमत थी लेकिन लगभग नदारद थी। ऊपर से पानी भरी मशकों पर भालों का निशाना था। इधर जानवरों की तरह लोग कटते रहे और उधर बूंद-बूंद पानी के लिए बच्चे तरसते रहे, प्यास में तड़पते रहे और अपनी जिंदगी से हाथ धो बैठे। आज भी दो हजार बरस पहले का यह वाकया सुन कर दिल बैठने लगता है, दिमाग सुन्न और आंखें नम हो जाती हैं।

लखनऊ की गरीब बस्तियों में भी पानी का सवाल बहुत प्यासा है- पानी को लेकर खीज है, दबा हुआ सा गुस्ता है, दुखभरी अफरा-तफरी है और यह रोजाना का किस्सा है। इन बस्तियों में भुखमरी ही नहीं, रोग और बीमारी भी पलती है और खूब परवान चढ़ती है। मंजर भले ही जुदा हो और टुकड़ों-टुकड़ों में हो लेकिन इस सरसरी दौरे से गुजर कर अनीस साहब की हां में हां मिलाने को जी किया। एकवारगी लगा कि जैसे उनका यह गुमनाम सा शेर आम फहम हो गया और चीखने लगा, लखनवी तहजीब और दरियादिली के कुर्ते फाड़ने लगा। काश कि इस शेर की टीस मायूसी और बेबसी की तंग गलियों से निकले और दूर तलक पहुंचे।

# असाधारण कानून और जनतंत्र : भारत का नव-मैकार्थीवाद

■ ईश मिश्र

नक्सलवाद-विरोधी अभियान के तहत बीज-महोत्सव में शिरकत करने एकत्रित, आदिवासियों की सभा पर अंधाधुंध गोलीबारी करके 12 से 16 साल के 4 बच्चों समेत 19 आदिवासियों की छत्तीसगढ़ पुलिस और सी.आर.पी.एफ. द्वारा नियोजित हत्या, जलियाँवाला बाग की एक और पुनरावृत्ति है। हिंदू में छपी एक खबर के अनुसार 4 किशोरियों का हत्या के पहले यौन-उत्पीड़न भी हुआ था। यह तमाम भूमण्डलीय कॉरपोरेटों के साथ केन्द्र एवं राज्य सरकारों के अनुबंधों (एमओयू) का सम्मान करने के लिए आदिवासियों को बेदखल करने की दीर्घकालीन कार्यनीति की एक और कड़ी है। 'मुठभेड़' के तुरंत बाद गृहमंत्री, चिदंबरम ने मारे गये आदिवासियों को, सी.आर.पी.एफ. के निदेशक के सुर-में-सुर मिलाते हुए, अविलम्ब उन्हें उसी तरह माओवादी घोषित कर दिया जैसे आतंकवाद विरोधी तथाकथित मुठभेड़ों में आडवानी जी मृतकों के नाम-पता के साथ उनके पाकिस्तानी होने की घोषणा कर देते थे। अब जब छत्तीसगढ़ के कांग्रेसी भी इसे फर्जी मुठभेड़ बताने लगे, तब भी चिदंबरम साहब निश्चितता से कहते हैं कि जो मारे गए सब माओवादी थे अगर कोई निर्दोष मारा गया तो उसका उन्हें खेद है। अमेरिकी स्वचालित ड्रोन विमानों से पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिम सीमान्त इलाकों में आतंकवादियों की हत्या की जाती है और मारे गए निर्दोषों के लिए ओबामा साहब खेद व्यक्त कर देते हैं। गौरतलब है कि इन गाँवों को 2005 में पुलिस और सलवाजुडूम ने तहस-नहस कर दिया

**आज के हिन्दुस्तान के हालात 1950 के दशक के अमेरिका में मैकार्थीवाद (मैकार्थीजम) की याद दिलाता है। यह दौर अमेरिका के इतिहास में लाल आतंक का दूसरा दौर नाम से जाना जाता था। आज हिन्दुस्तान के शासक वर्गों को नक्सलवाद का भूत सता रहा है। दर-असल नक्सलवाद का हौवा खड़ा करके इनका मकसद लूट-भ्रष्टाचार और शोषण के मुख्य मुद्दों से ध्यान हटाना और साम्राज्यवाद और आम जनता के मुख्य अंतर्विरोध की धार को कुंद करना है।**

था, गाँवों के लोग आतंक से अगल-बगल के इलाकों में भाग गए थे। 2009 में लोग फिर वापस आये और तिनका-तिनका जोड़ कर फिर से गाँव बसाया। लेकिन अब लोग भी लड़ने को तैयार हैं, अब भागेंगे नहीं। गौरतलब है कि तमाम जनतांत्रिक संगठनों द्वारा इन अनुबंधों को सार्वजनिक करने की मांग को सरकारें अनसुनी करती रही हैं। बहुत से गाँवों के तमाम गाँव वाले पड़ोसी राज्यों, उड़ीसा और आंध्रप्रदेश में शरण लिए हुए हैं। यह माओवाद-विरोधी अभियान के नाम पर, नरसंहारों और तरह-तरह के जोर-जुल्म से आदिवासियों को आतंकित करके, भूमण्डलीय कॉर्पोरेटी पूंजी द्वारा उनकी प्राकृतिक संपदाओं के दोहन और शोषण के लिए जनता के विरुद्ध अघोषित युद्ध है। इसके लिए विशिष्ट परिस्थितियों के नाम पर, सरकारें गैरकानूनी गतिविधि निरोधक कानून (यू.ए.पी.ए.) जैसे असाधारण काले कानून बनाती हैं।

मानवाधिकार कार्यकर्ता एवं पत्रकार सीमा आजाद एवं विश्व विजय को, इलाहाबाद की एक अदालत ने गैरकानूनी गतिविधि रोकथाम अधिनियम (यू.ए.पी.ए.) की विभिन्न धाराओं के तहत माओवादी होने और लोगों को नक्सल बनने को प्रेरित करने के आरोप में आजीवन कारावास दे दिया। ये दोनों, पति-पत्नी, एक मानवाधिकार संगठन पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबरटीज (पी.यू.सी.एल.) के सक्रिय कार्यकर्ता हैं और तमाम किस्म के माफियाओं और उनके राजनतिक आकाओं की सांठ-गांठ का भंडाफोड़ करते थे। सीमा

पी.यू.सी.एल. की उत्तर प्रदेश इकाई की संगठन-मंत्री हैं और दस्तक पत्रिका की संपादक। सीमा दस्तक में अपने लेखों के ज़रिये इलाहाबाद और कोशाम्बी जिलों के सैंड-माफिया और लैंड-माफिया के साथ राजनेताओं के घनिष्ठ संबंधों को तथ्यों और तर्कों से उजागर करती थी। कॉरपोरेट घरानों के लिए ज़मीन अधिग्रहण के विरुद्ध किसानों के आन्दोलनों के बारे में लिखती थी। फरवरी 2010 में दिल्ली पुस्तक मेले से किताबें खरीद कर वापस इलाहाबाद आ रहीं थी कि स्टेशन पर ही पुलिस ने इन्हें गिरफ्तार कर लिया। कहा गया कि उनके पास से आपत्तिजनक साहित्य पाया गया है जिससे इनका माओवादी होना साबित होता है। डॉ. विनायक सेन का मामला तो सर्वविदित है जिन्हें माओवादी समर्थक होने के आरोप में 2 साल बंद रखा गया और व्यापक अभियान के बाद उच्चतम न्यायालय के आदेश से वे जेल से बाहर निकल सके। व्यवस्था और उसकी लूट का विरोध करने वाले कितने ही राजनैतिक कार्यकर्ता और आंदोलनकारी देश की विभिन्न जेलों में अमानवीय यातना सहते हुए जी रहे हैं। टाटा के लिए भूमि-अधिग्रहण के विरुद्ध विस्थापन विरोधी जनमंच के नेतृत्व में चल रहे आंदोलन के सभी कार्यकर्ताओं और नेताओं पर दर्जनों फर्जी मुकदमे हैं और जैसे ही कोई गाँव से बाहर निकलता है, गिरफ्तार कर लिया जाता है। 16 आंदोलनकारी मारे जा चुके हैं। विस्थापन विरोधी जनमंच की महिला प्रकोष्ठ की पूर्व अध्यक्ष सिनी सेनोय को माओवादी कहकर गिरफ्तार कर लिया। यही बात सारे विस्थापन-विरोधी, खनन-विरोधी, भूमि आन्दोलनों के नेताओं और कार्यकर्ताओं पर भी लागू होती है। पास्को-प्रतिरोध संघर्ष समिति के अध्यक्ष, अभय साहू जैसे ही प्रतिरोध क्षेत्र छोड़ कर किसी सम्मेलन में भाग लेने बाहर गए किसी पुराने फर्जी मामले में गिरफ्तार कर लिए गए। नारायणपटना के शान्ति-पूर्ण भूमि आंदोलन के कार्यकर्ताओं का माओवादी बताकर दमन किया जा रहा है। नारायण पात्र को स्कूल शिक्षिका सोनी सोरी के साथ माओवादी होने के आरोप में अमानवीय अत्याचार लगातार खबरों में रहा है और उसके जनानांगों में कंकड़-पत्थर डालने जैसे घृणित दुष्कर्म को अंजाम देने वाले पुलिस अधिकारी को गणतंत्र दिवस पर सम्मानित किया जाता है। ममता बनर्जी से जादवपुर विश्वविद्यालय की एक छात्र ने एक सभा में

उनके एक साल के बहुप्रचारित सुशासन पर कुछ असुविधाजनक सवाल पूछ दिया तो वे गुस्से में उसे और तमाम छात्रों-शिक्षकों पर माओवादी होने का शक जाहिर करते हुए गुस्से में सभा से निकल गयीं। सुनते हैं गुप्तचर विभाग को इनकी निगरानी का निर्देश दिया है। यह तो अति-संवेदशील (एक्स्पेसल) परिस्थितियों के लिए बनाए गए असाधारण (एक्स्ट्रा-ऑर्डिनरी) कानूनों के तहत राजनैतिक विरोधियों और लोकतांत्रिक ताकतों के दमन के अनंत समुच्चय के चंद उप-समुच्चय हैं। विरोध को कुचलने की सरकारों की इस तरह की प्रवृत्ति को नव-मैकार्थीवाद कहा जा सकता है।

मार्क्स और एंगेल्स ने 1848 में कम्युनिस्ट घोषणा पत्र के प्राक्कथन में पोलेमिकल अंदाज में लिखा कि कम्युनिज्म का भूत यूरोप का पीछा कर रहा था। उसके 100 साल बाद वह भूत अमेरिका में साक्षात अवतरित हो गया। शीत-युद्ध के इस शुरुआती दौर में कम्युनिज्म और सोवियत संघ के प्रभाव का भय चरम पर था। रिपब्लिकन सेनेटर मैकार्थी ने सरकारी प्रतिष्ठानों, विश्वविद्यालयों, शोध-संस्थानों, फिल्म-उद्योग, संस्कृतिकर्मियों, स्कूल शिक्षकों, छात्रों की एक लंबी सूची तैयार की (हालीवुड ब्लैक-लिस्ट) जिन पर कम्युनिस्ट, कम्युनिस्ट समर्थक यानि सोवियत जासूस होने और देश द्रोह एवं गद्दारी के आरोप लगाए। इस 'अतिसंवेदनशील' स्थिति से निपटने के लिए अमेरिकी प्रशासन ने कई 'असाधारण कानून' बनाए। कम्युनिस्ट गतिविधियों की जांच के लिए कांग्रेस ने गैर अमेरिकी गतिविधियों की हाउस कमेटी (House Committee on Un-American Activities); सेनेट की आंतरिक सुरक्षा कमेटी (Senate Internal Security Committee) और जांच पर सेनेट की स्थायी कमेटी (Senate Permanent Sub Committee on Investigations) का गठन किया। 1949 से 1954 के दौरान इन कमेटियों ने 179 जांच किये। कालान्तर में मैकार्थीवाद बिना किसी साक्ष्य के देश-द्रोह या सोवियत जासूस का आरोप लगाने और असाधारण कानूनों के तहत विरोधियों के उत्पीड़न का पर्याय बन गया। आज के हिन्दुस्तान के हालात 1950 के दशक के अमेरिका में मैकार्थीवाद (मैकार्थिज्म) की याद दिलाता है। यह दौर अमेरिका के इतिहास में

लाल आतंक का दूसरा दौर नाम से जाना जाता था।

आज हिन्दुस्तान के शासक वर्गों को नक्सलवाद का भूत सता रहा है। दर-असल नक्सलवाद का हौवा खड़ा करके इनका मकसद लूट-भ्रष्टाचार और शोषण के मुख्य मुद्दों से ध्यान हटाना और साम्राज्यवाद और आम जनता के मुख्य अंतर्विरोध की धार को कुंद करना है। मैकार्थिज्म के तहत किसी को भी कम्युनिस्ट समर्थक होने के संदेह में तरह तरह की यातनाएं दी जाती थीं। आइन्स्टाइन जैसे वैज्ञानिकों पर एफ.बी.आई. निगरानी रखती थी। सूचना के अधिकार के तहत प्राप्त सामग्रियों को संपादित कर आइन्स्टाइन फाइल शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। एफ.बी.आई के निदेशक एडगर होवर ने 23 साल तक आइन्स्टाइन की खुफियागिरी की, उन्हें सोवियत जासूस साबित करने और नागरिकता खत्म करने के प्रयास में उनके फोन टेप करने और चिट्ठियाँ पढ़ने का काम एफ.बी.आई करती रही थी। जिस तरह 1950 के दशक में अमेरिका में, सेनेटर मैकार्थी की समाज के विभिन्न तबकों, व्यवसायों में कम्युनिस्टों की मौजूदगी की मनगढ़ंत सूची के आधार पर 'लाल आतंक' का हौवा खड़ा करके, तमाम काले कानून बनाए जिनके तहत किसी भी कलाकार, बुद्धिजीवी, मानवाधिकार कार्यकर्ता का मैकार्थिज्म के तहत 'लाल शिकार' किया जा सकता था, उसी तरह की प्रवृत्ति आज किसी भी विरोध को दबाने के लिए, आदिवासी इलाकों में कॉरपोरेट को खुली लूट की छूट के कंटकों को हटाने के उद्देश्य से विस्थापन विरोधी आन्दोलनों को कुचलने के लिए माओवाद का हौवा खड़ा करके भारत की सरकारें संविधानेतर कानून बनाकर लोगों के मानवाधिकारों का हनन करती रही हैं। 1953 में, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आइन्स्टीन और अन्य समकालीन बुद्धिजीवियों और मानवाधिकार कार्यकर्ताओं के अथक प्रयास के बावजूद, मैनहट्टन परियोजना से जुड़े वैज्ञानिक पति-पत्नी, जुलियास और ईथैल रोजेनबर्ग, कम्युनिस्ट समर्थक यानी सोवियत जासूस के आरोप में सिंग-सिंग चेरर पर बैठने से नहीं बच सके। जिस पर भी संदेह हुआ उसे 'हाउस ऑफ अन-अमेरिकन कमेटी' के सामने पेश हो कर 'गुनाह' कबूल करना पड़ता या फिर 'विशेष अदालत' में मुकदमा। सलवा जुद्ध की तर्ज पर तमाम निजी जांच एजेंसियां और सुरक्षा

इकाइयां सरकारी प्रश्रय पर फूर्ली-फर्ली।

भारत के माननीय प्रधान मंत्री, मनमोहन सिंह, माननीय गृह मंत्री श्री पी. चिदंबरम को हर बात में देश के लिए नक्सलवाद देश की सभी समस्याओं की जड़ है और देश के लिए खतरा। माननीय गृह मंत्री पी. चिदंबरम एवं अन्य नेता चाहे परमाणु खतरे पर बोल रहे हों या भू-माफिया की किसानों की ज़मीन से बेदखली पर, आकंठ व्याप्त भ्रष्टाचार पर या देश की बाज़ार को बड़े-विदेशी कॉरपोरेट घरानों को गिरवी रख कर लाखों लोगों को बेरोजगार करके उपभोक्ता को उनके रहमो करम पर छोड़ने का मामला हो, उन्हें एकाएक सभी का मूल नक्सलवाद, माओवाद नज़र आता है। इससे निपटने और आदिवासियों तक 'विकास' पहुंचाने के लिए सुरक्षाबलों की संख्या और सुविधाओं के लिए करोड़ों के बजट का ऐलान करते हैं। नक्सलवाद, माओवाद के भूत का असर इन पर उस समय ज्यादा होता है जब ये अमरीका की तीर्थयात्रा से लौटे होते हैं। नक्सलबाड़ी की विरासत के अन्य दावेदारों की उपस्थिति से अनभिज्ञ ये नक्सलवाद और माओवाद का एक दूसरे के पर्याय के रूप में इस्तेमाल करते हैं। इनके ही नहीं, देश के तमाम मंत्रियों-मुख्यमंत्रियों, सीपीएम समेत तमाम झंडों की पार्टियों के लंबरदारों, नौकरशाहों, सुरक्षा अधिकारियों, 'मुख्य-धारा' के पत्रकारों और बुद्धिजीवियों, सभी पर रह-रह कर नक्सलवाद का भूत सवार होता रहता है।

इस लेख का उद्देश्य मैकार्थीवाद का विश्लेषण या उसके तहत अमेरिकी तंत्र की बर्बर क्रूरताओं का वर्णन करना नहीं है, न ही भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की वैचारिक समझ या राजनैतिक कार्रवाइयों की गुणवत्ता का मूल्यांकन है। वैसे हाल की आह्वान की कार्रवाइयों में माओवादियों की मांगों का केन्द्रीय बिंदु निर्दोषों और नारायणपटना जैसे जनतांत्रिक भूमि आंदोलनों के कार्यकर्ताओं की रिहाई है। अभी मध्यस्थों के माध्यम से केन्द्रीय मंत्री जयराम रमेश ने भी सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया कि छतीसगढ़, झारखंड, उड़ीसा एवं माओवाद प्रभावित राज्यों की जेलों में सालों-सालों से अमानवीय यातना झेल रहे आदिवासी निर्दोष हैं और उन पर फर्जी मुकदमे थोपे गए हैं। इसका मकसद यह दिखाना है कि कथनी-करनी के शाश्वत अंतर्विरोध के दोगले चरित्र का

हिमायती संसदीय जनतंत्र तभी तक जनतांत्रिक रहता है, जब तक कोई खतरा न हो, राजनैतिक विरोध को हद पार करने से रोकने के लिए, संविधानेतर, अजनतांत्रिक, असाधारण कानूनों का सहारा लेता है।

विनायक सेन को माओवादी समर्थक होने के आरोप में दो साल से अधिक जेल में रहने के बाद अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर निरंतर अभियान के चलते जमानत मिल सकी। आदिवासी शिक्षिका सोनी सोरी को माओवादी होने के आरोप में बंद करके हर युग की क्रूरतम बर्बरताओं को धता बताते हुए उसके जननांगों में कंकड पत्थर ठूसने की हद तक प्रताड़ित किया गया और दुनिया के सबसे बड़े जनतंत्र में इस 'बहादुरी' को अंजाम देने वाले 'जांबाज' पुलिस अधिकारी को गणतंत्र-दिवस पर पदकों से सम्मानित किया गया। पत्रकार लिंगा कोदोपी भी माओवादी होने के आरोप में जेल में बंद यातनाएं झेल रहा है। विनायक सेन तो खुली हवा में घूम रहे हैं लेकिन कितने और निर्दोष 'गैर कानूनी' कानूनों के तहत जेल के सीखचों में बंद हैं। यह सब संविधान सम्मत असाधारण कानूनों के तहत किया जाता है।

विनायकसेन की ही तरह न जाने कितने लोग अवैध गतिविधि रोकथाम अधिनियम (यू.ए.पी.ए.), छत्तीसगढ़ जन सुरक्षा अधिनियम जैसे संविधानेतर, असाधारण कानूनों के तहत सालों साल से कितने लोग हिन्दुस्तान की कितनी जेलों में बंद हैं? चर्चित फिल्म इन द नेम ऑफ फादर की विषय-वास्तु, इंग्लैण्ड में गिल्ड फोर और बिर्मिंगम सिक्स जैसे चर्चित मुकदमों में निषेधात्मक बंदी अधिनियम, (पी. डी.ए.) 1974 के तहत संदेह के आधार पर बंद लोगों को अदालत द्वारा 17 साल (1974-91) जेल में रखने के बाद निर्दोष पाया गया। अमेरिका में, 9/11 के बाद PATRIOT जैसे असाधारण कानूनों के तहत गिरफ्तारियां और उत्पीडन की कहानियां किंवदंतियां बन चुकी हैं। 'विशिष्ट परिस्थितियां' और उनसे निपटने के लिए, संविधान सम्मत 'असाधारण' कानून जनतांत्रिक शासन के अभिन्न अंग बन चुके हैं। इस तरह के असाधारण कानूनों के तहत भारत में असंख्य लोग विभिन्न जेलों में अमानवीय स्थितियों में रह रहे हैं। भारत के लोकतांत्रिक शासन के ये अलोकतांत्रिक, असाधारण कानून न सिर्फ कानूनी प्रावधानों को धता बताते हैं बल्कि

लोकतंत्र और न्याय के सिद्धांतों की भी धज्जियां उड़ाते हैं। इन लोकतांत्रिक कानूनों को संविधान की मान्यता प्राप्त है और इन्हें अपरिहार्य अपवाद माना गया है।

भारत में असाधारण कानूनों का इतिहास संविधान लागू करने के साल से ही शुरू हो जाता है। 1950 में तेलंगाना किसान आंदोलन से निपटने के लिये तत्कालीन गृहमंत्री सरदार पटेल ने संसद में निषेधात्मक बंदी अधिनियम (प्रिवेंटिव डिटेंशन एक्ट (पी.डी.ए.), 1950 पारित कराया। 1958 में नगा विद्रोह से निपटने के लिए फौज को बिना किसी जवाबदेही के असीमित अधिकार देने वाला सशस्त्र बल विशेषाधिकार अधिनियम आर्म्ड फोर्सस स्पेशल पावर एक्ट (ए.एफ.एस.पी.ए.), 1958 आज भी पूर्वोत्तर राज्यों और कश्मीर में लागू है और हजारों लोग मौत के शिकार हो चुके हैं और बलात्कार एवं अन्य अत्याचारों की कहानियां अनंत हैं। गृह मंत्रालय में कश्मीर में फर्जी मुठभेड़ों और सुरक्षाबलों के जघन्य अपराधों के कितने मामले मुकदमे की अनुमति के लिए लटके पड़े हैं। इस काले कानून के खात्मे के लिए इरोम शर्मिला की भूख हड़ताल गिन्नीज बुक में जा चुकी है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कितनी गुहार लगाई जा चुकी है, पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं लेकिन शर्मिला का जनतांत्रिक अनशन इस जनतांत्रिक सरकार के कान पर जूँ रिंगाने में नाकाम रहा है।

1975-77 के आपातकाल के बाद इस तरह के कानूनों पर लंबी बहस के बाद मीसा जैसा फासीवादी कानून हटा तो लेकिन उससे भी खतरनाक कानून बने। टाडा 1985 के तहत मासूमों पर तमाम जुल्म इतिहास का हिस्सा बन गये हैं। टाडा की जगह उसके सारे अधिनायकवादी प्रावधानों को समाहित करके पोटा 2002 बना जिसका इस्तेमाल राजग सरकारों ने अल्पसंख्यक समुदाय के खिलाफ साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के लिए किया। पोटा को हटाकर अब यू.ए.पी.ए. बिना सुनवाई गिरफ्तारी का कानून बन गया है। इसमें टाडा और पोटा दोनों के ही सारे अधिनायकवादी प्रावधानों को समाहित किया गया है। अमेरिका में जिस तरह असाधारण कानूनों के तहत जनतांत्रिक सोच का दमन हो रहा था कुछ वैसा ही नव मैकार्थीवाद आज भारत में देखने को मिल रहा है। देश की सभी जनतांत्रिक ताकतों को इन अजनतांत्रिक असाधारण कानूनों के विरुद्ध लामबंद होने की ज़रूरत है।



# कैथल एक बेहद पुराना, गंगा-जमुनी संस्कृति का शहर

■ आशु वर्मा

12 साल पहले हरियाणा के कैथल जिले के नवोदय विद्यालय में पोस्टिंग हुई। करनाल, हांसी, कुरुक्षेत्र के बारे में तो सुन रखा था, पर कैथल, पूर्वी उत्तर प्रदेश का होने के कारण इस इलाके की जानकारी कम ही थी। बहरहाल, अटैची उठाये पूछते पाछते पहुँच गई कैथल। पिछले बारह साल से कैथल में ही हूँ और अब तो इस शहर से मुहब्बत हो चली है। जैसे-जैसे इस शहर में आना-जाना बढ़ता गया, आस-पास के गाँवों में जाना हुआ, बच्चों के अभिभावकों से मिलना-जुलना हुआ, शहर की एक धुंधली सी तस्वीर उभरने लगी। दिलचस्पी बढ़ती गयी। इस सारे इलाके में महाभारत से जुड़ी हुई कहानियाँ तो प्रचलित हैं ही, यूँ भी शहर में बिखरे पुराने खंडहरों, बावलियों, कुओं, मज़ारों, मकबरों, मस्जिदों, हवेलियों और किले में एक अजीब सी कशिश थी...

एक दिन किसी बुजुर्ग ने रजिया बेगम की मज़ार के बारे में बताया, तो कुछ मित्रों के साथ उसे देखने निकली, बेहद अफसोस हुआ कि कोई ठीक से बता ही नहीं पाया.. बड़ी मुश्किल से वहाँ तक पहुंची तो मज़ार की हालत देख दिल को खासा झटका लगा।

इसी बीच कैथल में सक्रिय संभव नाम की सामाजिक-सांस्कृतिक संस्था के साथ जुड़ी। फरवरी 2011 में सिरजन नाम से कैथल की साझी विरासत पर एक सांस्कृतिक कार्यक्रम करने की योजना बनी। योजना के दौरान ही हमने तय किया कि क्यों न यहां की साझी विरासत पर एक प्रदर्शनी लगाई जाये। प्रदर्शनी तैयार करते-करते यहां की तारीख में और दिलचस्पी जागी। फिर जैसे-जैसे हम शहर में, आस-पास के गाँवों में घुसते चले गए, लोगों से बातें करते गए, कैमरा और डायरी लिए गलियों में भटकते और टीलों को नापते गए, तारीख का पीछा करते गये, वह अपना एक-एक पन्ना खोलता गया। सब कुछ जीवित सा लगने लगा। क्या कुछ समेट रखा है इस हजारों साल पुरानी बस्ती ने.... पर तकसीम ने इस इलाके का मंजर ही बदल दिया। लोग ही बदल गये ...फिर भला कौन हिफाजत करता पुरखों की वसीयत की? सिलसिला ही टूट जो गया...

हमें यकीन ही नहीं हुआ की खोज करते, पढ़ते, पूछते, ढूँढते हम हड़प्पा काल की एक बस्ती में पहुंच गये। बालू, कैथल का एक काफी बड़ा गाँव। 20 साल पहले खुदाई हुई

थी। तमाम ईंटें, बर्तन, खंडहर, नींव मिली। आज गाँव के बहुत कम लोग जानते हैं इस बात को। यह इलाका राखीगढ़ी और बनावली के हड़प्पा बस्तियों के पास ही है। ऋग्वेद के तीसरे मंडल 3/23/4 और वामन पुराण में कैथल से गुजरती अपाया नदी का जिक्र है। पाणिनि के अनुसार कथा संहिता की रचना कथा गोत्र के कपिस्थल के ब्राह्मणों ने की। कैथल का ही पुराना नाम कपिस्थल है, यानि हनुमानजी का जन्मस्थान, जहां कथा गोत्र के ब्राह्मण आज भी हैं। पता चला च्यवन ऋषि चौसाला गाँव में हुए थे। वह गांव बेहद पुराना टीले पर बसा गाँव है जहां इंडो- इस्मालिक शैली के बने कई खंडहर मिले।

पता चला ह्वेनसांग कैथल शहर की गलियों से होकर गुजरा है...थानेसर, हर्षवर्धन का इलाका यहां से बेहद पास है। यहां के गाँव में हिंद-यूनानी और कुषाण काल के सिक्के मिले। गुर्जर प्रतिहार राजाओं ने कलायत के कस्बे में बेहद सुंदर ईंटों वाले मंदिर बनवाए। इसी कस्बे में बाद में मशहूर गायिका और तवायफ सरदारी बेगम हुईं। जाहिर है यह इलाका अदब, शायरी और तहजीब का केन्द्र रहा होगा।

यहां से होकर नादिर शाह की फौज गुजरी। पठानों, अफगानों, सैयदों को यहाँ बसाया गया। इन सभी की संस्कृतियों, बोलियों, खान-पान, पहनावे, स्थापत्य और अपने बिछुड़े मुल्क की स्मृतियों को जिंदा रखने की ख्वाहिश ने कैथल की संस्कृतियों में ढेरों रंग भरे। मध्ययुग के इतिहासकार जलालुद्दीन ने कैथल के विद्वानों की तारीफ की है। यह कला और ज्ञान का केन्द्र था। पुराने शहर के बीचोबीच 18 गुम्बदों वाली, काफी बड़े अहाते में बनी भव्य जामा मस्जिद इस सच्चाई को बयान करती है। अब सात गुम्बद ही रह गये हैं अंदर कूड़े के ढेर लगे हैं। अहाते में विभाजन के समय आये लोगों ने, जैन स्कूल में कब्जा जमा रखा है। यहाँ बगदाद से 928 हिजरा (16 वीं सदी) में आये सूफी संत कमाल बाबा कादरी और उनके पोते की मज़ार है। शेख तय्यब, शाह विलायत और न जाने कितने सूफी संतों ने इसे अपना ठिकाना बनाया और गंगा-जमुनी तहजीब के विकास में मदद की। एक बुजुर्ग मुसलमान ने बताया कि पहले लोग जब शहर में घुसते थे तो अपनी जूतियाँ निकाल लेते थे क्योंकि मक्का मदीना के बाद दुनिया में सबसे ज्यादा

मजारें (99) कैथल में ही हैं। इस अकेले तथ्य से ही साझी संस्कृति के अतीत को समझा जा सकता है। यहां गुरु तेग बहादुर, बंदा बहादुर कई बार आये। यहां के कई गुरुद्वारे ऐतिहासिक हैं। एक गुरुद्वारे में तो रामायण का पाठ भी होता है। कैथल की ज़मीन ने, यहां के बाशिंदों, ने सदियों से सभी को जगह दी है। इसके हर पन्ने पर अलग-अलग कौमों, मजहबों, बोलियों, तौर-तरीकों और रवायतों की कहानी दर्ज है।

यहां के सिख शासक उदय सिंह की विधवा, उसके वफादार सिपहसालार टेकसिंह और कैथल की बहादुर जनता ने 1857 के गदर में अंग्रेजों से जम कर मुकाबला किया और फिर यातना सही। गिरधर अहलूवालिया ने अंग्रेज अफसर को गोलियों से उड़ा दिया। असहयोग, सिविल नाफरमानी, भारत छोड़ो जैसे आंदोलनों में जम कर हिस्सेदारी की। रामकृष्ण परमहंस के गुरु कैथल के तोतापुरी गाँव से थे।

तकसीम के समय आये जट सरदारों और मुल्तान, झंग, लाहौर जैसी जगहों से उजड़ कर आये “रिफ्यूजियों की पहली पीढ़ी अभी जिंदा है। किसी बुजुर्ग को कुरेदिये, उनकी आँखें टंग जायेंगी कहीं दूर, बहुत दूर, बचपन में गुजारे गए किसी घर पर, किसी गली, दुकान, स्कूल या लाला की दुकान पर.. . और कुरेदिये... आँखें नम हो जायेंगी... बताएँगे वे अपने

पुरखों की ज़मीन से उजड़ने, अपनों को खो देने, अपनों के मारे जाने की पीड़ा। दिलों में उन यादों को संजोये, उन्होंने भी इस शहर में जगह बनाई है, शहर को एक बेलौस चमक दी है। उनकी वजह से शहर में एक अजीब सी खुशी और उल्लास तारी रहता है...

शहर और गाँव में छोड़ दी गई या फिर आज भी बसी हुई ऐसी हवेलियाँ हैं, जिनकी बेहतरीन नक्काशी, पच्चीकारी और राजस्थानी, गुजराती या इंडो-इस्लामी सजावट पर यकीन ही नहीं होगा।

यकीन ही नहीं होता जिस शहर में मैं इतने साल से रह रही थी वह इतना कुछ लिए हुए है। बुजुर्ग याद करते हैं...बाकी तो बताने वाला कोई रहा ही नहीं। तकसीम के समय मुसलमान उधर चले गये और हिन्दू इधर आ गये... जिस इलाके की कृषि और पशुपालन औरतों के हाथ में है, वही आज मारी जा रही हैं। जिस शहर और इलाके और सभ्यता को बसाने में दलितों ने खून बहाया हो, वे ही आज उजाड़े या रौंदे जा रहे हैं... मुसलमान बहुत कम रह गये हैं। एक नया ही असेम्बली लाइन पर बना शहर बढ़ता जा रहा है। एक बिछुड़ा गए शहर को दोबारा से जानना, समझना और पहचानना एक अलग ही अनुभव है जो एक निराली ही खुशी देता है। इसे और-और ढूँढना अभी जारी है...

## अबके हम बिछड़े तो शायद कभी खाबों में मिलें

एक बड़ी मुलायम सी आवाज़ शाइस्ता ज़बान में कुछ गुनगुनाती कंटीले बाड़ों पर तैरती सी सरहद के उस पार से इस पार का सफर तय करती रही सालों...। तो एक आवाज़ जिसे मेंहदी हसन का नाम दिया गया। अब जब कि वो आवाज़ खामोश हो गई तो जैसे सरहद के कंटीले बाड़ों में और तीखे काटे उग आए। इस आवाज़ या इन जैसी तमाम आवाज़ों ने इन बाड़ों को भरसक कुंद किया।

सरहद के इस पार जन्मा, राजस्थान की रेतों में जन्मा ये गायक सरहद के उस पार चला गया, बस गया।

पर उसकी रेशम आवाज़ इस पार भी अपना नूर बरसाती रही। इन दोनों मुल्कों के वजूद को बांटता वो हैबतनाक जलजला जिसने इस पूरे इलाके, पूरे दक्षिण एशिया के करोड़ों बाशिंदों और आने वाली पीढ़ियों की भी चूलें हिला दीं। नफरत, कड़वाहट, बदगुमानी और इंतकाम की सोच से खौलते, उबलते उस दौर में मरहम का काम करने को, दिलो-दिमाग को ठंडक बखाने को संगीत, साहित्य ही बायस बने। जब रेतीली आंधियों और ज़हरीले ख्यालात ने चारों तरफ अपने पंजे गड़ा दिये हैं। कुछ अफसाने, थोड़ी सी कविताएं, कुछ शायर, चंद आवाज़ें हैं जो पुल बनाती हैं और जिनसे हम बार-बार गुज़रते हैं।



## उत्तराखंड की भाषाओं का खिसकता जनाधार और सामाजिक-सांस्कृतिक हास

■ सुरेंद्र रावत

भाषा आभ्यंतर अभिव्यक्ति का सर्वाधिक विश्वसनीय माध्यम है। यही नहीं वह हमारे आभ्यंतर के निर्माण, विकास, हमारी अस्मिता, सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान का भी साधन है। भाषा के बिना मनुष्य सर्वथा अपूर्ण है और अपने इतिहास तथा परंपरा से विच्छिन्न है।

शब्द सबसे बड़े यायावर हैं और मानव मन की अभिव्यक्ति के साधन भी। जो बोली-भाषा के रूप में समाज में स्थापित होते हैं। मनुष्य जिसे कभी रोजी-रोटी की तलाश में तो कभी अन्य कारणों से स्थान परिवर्तन करना पड़ता है, अपने साथ अपनी बोलचाल की भाषा को साथ लेकर चलता है और भाषा अपना प्रचार-प्रसार पाती है। हमारे समाज ने भी रोजी-रोटी के चलते देवभूमि उत्तराखंड से शहरों की ओर रुख किया जो कि काफी हद तक उनकी मजबूरी भी थी। और नियमानुसार उनके साथ उनकी बोली-भाषा ने भी उनके साथ सफर किया लेकिन अफसोस होता है बोली-भाषा का ये सफर गति न पा सका, अवरुद्ध हो गया।

उत्तराखंड जहां मुख्यतः दो भाषाएं बोली जाती हैं गढ़वाली और कुमाऊंनी तथा तीसरे नंबर पर आती है जौनसारी, लेकिन जब समाज की तरफ नज़र दौड़ती है तो मन में एक मायूसी सी घर कर जाती है कि समय के साथ कदमताल करती युवा पीढ़ी का अपनी भाषाओं से कोई सरोकार नज़र नहीं आता। साफ तौर पर इसके दो कारण नज़र आते हैं जो उत्तराखंड की भाषाओं के अवरुद्ध होने के लिए जिम्मेदार हैं। पहला वह पीढ़ी जिसने रोजी-रोटी की तलाश में पलायन किया था उसने अपने घर-बार में आपस में (पति-पत्नी ने) तो इन भाषाओं में बात की लेकिन अपनी भावी पीढ़ी (बच्चों) को एक थाती के रूप में इसके महत्व को नहीं समझाया और न ही उन्हें ये भाषा सिखाने के लिए कोई प्रयास किया जिसके चलते युवाओं ने भी इसे अपनाने का कोई प्रयास नहीं किया। दूसरा उत्तराखंड के स्तर पर बेरोजगारी की समस्या जिससे सीधे तौर पर जुड़ा है पलायन और

उसी के साथ भाषा का हास होना। और इस तरह गढ़वाली-कुमाऊंनी धीरे-धीरे घर के भीतरी कोनों में कब खिसकती चली गयी पता ही नहीं चला और कब हमारा नाता अपनी ही भाषा से दूर की रिश्तेदारी में तब्दील हो गया और दिन-ब-दिन और दूर होता जा रहा है इसका हमें भान भी नहीं हो पाया और न वर्तमान में हो रहा है।

भाषा से यूं विमुख हो जाना कई मायनों में गंभीर अर्थ रखता है, क्योंकि जब भाषा का विकासक्रम अवरुद्ध होता है तो साथ ही साथ बकौल नोबेल पुरस्कार विजेता चीनी लेखक गाओ जिंजियान के अनुसार ये भाषा ही है जिसमें क्षेत्र की परंपरा निवास करती है। संस्कृति और भाषा सदा से निकट का संबंध रखती आई हैं। भाषा यदि अवनति की ओर जाएगी तो सीधे तौर पर हमारी परंपराएं और हमारी संस्कृति भी उसके साथ अवनति की ओर अग्रसर होंगी। भाषा ही है जो इंसान को इंसान से जोड़ती है। लिखित शब्द इस अर्थ में भी जादुई हैं, क्योंकि वे दो भिन्न लोगों के बीच संवाद कायम करते हैं चाहे वे भिन्न काल के ही क्यों न हों।

इसका एक और गंभीर परिणाम जो मुझे अपने तर्ई नज़र आता है वो है साहित्यकार की मौत। क्योंकि एक लेखक पूरी तरह भाषा पर निर्भर करता है और जिस भाषा का जनाधार ही धीरे-धीरे खिसकता जा रहा हो और ऊपर से तुरा ये कि राज्य में भी भाषा का कोई खैरखाह न हो तो फिर एक लंबी चुप्पी लेखक के मन पर तारी हो जाती है और लेखक का यूं चुप हो जाना ही उसकी मौत के समान होता है। साथ ही साहित्यकारों के अभाव में समाज

भी गति नहीं पा पाता क्योंकि जब उसे कोई आईना दिखाने वाला ही नहीं रहता तो फिर समाज से विचारणा शक्ति भी जाती रहती है।

आज वो समय है जब हमारे समाज को भाषा के महत्व को जानना ही होगा। खासकर ऐसे दौर में जब हम अपनी जड़ों से कटकर, विमुख होते जा रहे हैं साझी विरासत के उन मूल्यों से जिनके बिना पहले समाज का हास होना शुरू होता है और फिर धीरे-धीरे समाज को जोड़ने वाली साझा संस्कृति विलुप्ति की कगार पर आ जाती है। इसी के साथ इंसान को इंसान से काटने वाली उपभोगतावादी संस्कृति समाज पर हावी हो जाती है। ऐसे में साझी विरासत के इस रूप (भाषा) का संरक्षण व संवर्धन और भी महत्वपूर्ण हो जाता है।

आखिर भाषा में ये साझापन क्या है, तो मुझे सुषमा नैथानी जोकि पेशे से यूनाइटेड स्टेट में साइंटिस्ट हैं व शौकिया कवियत्री भी, के शब्द बरबस ही याद हो आते हैं कि इतना याद रहा कि इस भाषा को सुनते हुए लगता कि लोग गाकर बात करते हैं। स्वर और शब्द साथ-साथ रोते हैं, हँसते हैं, गढ़वाली में बात करना ऐसे, जैसे कोई लगातार गाने का रियाज हो, उसकी लय में ही उदासी, उल्लास, बेचैनी, सारे भाव इतनी आसानी से घुले रहते हैं कि शब्दों को भी पकड़ने की ज़रूरत नहीं पड़ती। ऐसा ही कुछ कुमाऊँनी, और डोगरी सुनते हुए भी लगा, शब्द और भावों की भिड़ंत न होती, आर-पार सब पारदर्शी...।

आर-पार की ये पारदर्शिता यूँ ही बरकरार रहे इसके लिए हमें अपने अंदर भी झांकना होगा। क्योंकि जाने-अनजाने हमारे मन में जो सबके बीच घुल मिल जाने की चाह है, जो कि भीड़ के बीच अलग इंगित होने के डर के

परिणाम-स्वरूप है उसे दरकिनार करना होगा। ताकि मानव मन की अभिव्यक्ति के साधन शब्दों की यायावरी अनवरत जारी रहे।

वाल्मीकि रामायण के एक श्लोक का अंश है जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी अर्थात् माँ और मातृभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर होती है। यहां मातृभाषा जो है, माँ के समान है और वह मातृभूमि से जुड़ी हुई है। माँ, मातृभूमि और मातृभाषा की यह त्रिमूर्ति सदा वंदनीय है। इस त्रिमूर्ति को विस्मृत करना अक्षम्य अपराध है। ऐसा अक्षम्य अपराध जिसमें हम अपनी बहुमूल्य परंपरा, अमूल्य विरासत को भावी पीढ़ी तक पहुंचने से रोकते हैं।

समय अभी चूका नहीं है। आइए हम अपने कर्तव्य के प्रति सजग हों और वैश्वीकरण के बढ़ते दौर में अपनी इस साझी विरासत को अगली पीढ़ियों तक पहुंचाने का संकल्प लें। इसके लिए हमें योजनाबद्ध रूप से काम करना होगा। समाज में ऐसे अनुभवी व्यक्तियों के अनुभवों को आगे लाना होगा जो भाषा के प्रति गंभीर सोच रखते हैं और इस दिशा में निरंतर प्रयासरत हैं। इनके माध्यम से ऐसे पाठ्यक्रमों का निर्माण करना होगा जो भाषायी आयाम के साथ-साथ सामाजिक व सांस्कृतिक आयाम की भी पूर्ति करता हो। ताकि हम वह दिन देखने के लिए मजबूर न हों जब अपनी अमूल्य निधियों को जो पुस्तकालयों तथा अभिलेखागारों में पांडुलिपियों के रूप में सुरक्षित हैं उनको बाँचने व समझने के लिए अपनी ही भाषा (गढ़वाली-कुमाऊँनी) के विशेषज्ञों को विदेशों से बुलाना पड़े। आइए इसी सोच के साथ भविष्य के मद्देनज़र इस दिशा में कदम बढ़ाएं, पगडंडियों का निर्माण करें राहें अपने-आप बनती चलेंगी।

## ● और अंत में...

मुझे देश की आज़ादी और भाषा की आज़ादी में से किसी एक को चुनना पड़े तो मैं निःसंकोच भाषा की आज़ादी को पहले चुनूंगा, क्योंकि मैं फायदे में रहूंगा। देश की आज़ादी के बावजूद भाषा की गुलामी रह सकती है, लेकिन अगर भाषा आज़ाद हुई तो देश गुलाम नहीं रह सकता।

-गणेश शंकर विद्यार्थी

## शुंग-सातवाहन काल

■ मुक्तिबोध

...पिछले अंक से जारी

**महान संक्रमण युग :** ईसा-पूर्व दूसरी सदी के आरंभ से ईसा-पश्चात् तीसरी सदी के अन्त तक की पांच शताब्दियां राजनैतिक अस्थिरता से पूर्ण हैं। एक ओर, किसी अखिल भारतीय राजसत्ता का विकास नहीं हुआ, दूसरी ओर, बहुतेरी विदेशी जातियां एक-के-बाद-एक भारत को वशीभूत करने का प्रयत्न करने लगीं।

फिर भी, यह युग भारत के श्रेष्ठतम काल-खण्डों में से है। भारत की सांस्कृतिक प्रतिभा ने विदेशी आक्रमणकारी जातियों को अपने में ऐसा खपा लिया कि आगे वे इतिहास के पन्ने से ही उड़ गयीं।

इसी काल में ब्राह्मण धर्म ने देश-कालानुसार अपने को परिवर्तित करके फिर से प्रभुत्व स्थापित कर लिया। साथ ही, बौद्ध धर्म ने उत्कर्ष और विकास के नये शिखर प्राप्त किये। भारत ने एक-से-एक मेधावी पुरुष उत्पन्न किये, और ज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व सफलताएं प्राप्त कीं।

### महान संक्रमण काल

(शुंग-सातवाहन युग)

अशोक की मृत्यु के लगभग तीस वर्ष पश्चात् ही उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर विदेशी आक्रमण शुरू हो गये थे। लगभग पांच सौ वर्षों तक, भारत में, इन आक्रमणों के फलस्वरूप, उथल-पुथल होती रही।

**यूनानी हमले :** चंद्रगुप्त मौर्य के काल में, उत्तर-पश्चिम सीमान्त के उस पार, सेल्यूकस निकटॉर का राज्य था। इस यूनानी राजा की मृत्यु के उपरांत, वह साम्राज्य अनेक भागों में विभक्त हो गया। अशोक की मृत्यु के लगभग 30 वर्ष बाद ही, एन्टीओकस नामक एक यूनानी राजा ने उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर चढ़ाई करके उसका कुछ हिस्सा अपने कब्जे में कर लिया था।

एन्टीओकस के बाद, बैक्ट्रिया (बाल्ख) के राजा डिमिट्रिअस ने भारत पर चढ़ाई की। किंतु, काबुल का यूनानी राजा मिनेण्डर अधिक प्रसिद्ध हुआ। एक तो इसलिए कि वह ज़्यादा खूंखार था, दूसरे यह कि उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था।

**मिलिन्द :** मिनेण्डर ने मथुरा, साकेत और पाटलिपुत्र पर हमला किया। मगध के सम्राट पुष्यमित्र ने उसे पाटलिपुत्र से मार भगाया। फिर भी उत्तर-पश्चिमी सीमान्त (अफगानिस्तान-बलूचिस्तान) के अतिरिक्त पंजाब, सिंधु और सौराष्ट्र मिनेण्डर के कब्जे में ही रहे।

प्रसिद्ध बौद्ध पंडित नागसेन से वह बहुत प्रभावित हुआ। 'मिलिन्द-पन्हा' (मिलिन्द-प्रश्न) नामक ग्रंथ में, हमें नागसेन और मिलिन्द का वार्तालाप मिलता है। बौद्ध धर्म मान लेने पर मिलिन्द

की कीर्ति दूर-दूर तक फैली।

**पार्थियन या पल्लव :** ईरान में खुरासान नामक एक प्रान्त है। उसे पहले पार्थिया कहते थे। पार्थिया के राजा मिथ्राडेटीस ने ई.पू. 138 में अर्थात् पुष्यमित्र के अनन्तर पंजाब पर हमला किया था। पार्थियन राज्य पंजाब पर कई दिनों तक रहा, किन्तु शकों या सिथियन लोगों ने आकर उसे नष्ट कर दिया।

**शक :** शक मध्य एशिया से आकर खुरासान (सिस्तान) में आकर बसे। वे यू-ची नामक जाति के द्वारा भगाये गये थे। उन्होंने ई.पू. 135 के लगभग भारत पर हमले शुरू कर दिये।

शकों ने पंजाब, काश्मीर और सिंध पर हाथ साफ किया। यहां तक कि काठियावाड़ और गुजरात को भी अपने कब्जे में ले लिया। अब उन्होंने मालवा और राजस्थान को भी आतंकित और त्रस्त करना आरंभ किया। उन्होंने अपने प्रान्तों पर सैनिक प्रान्त-पति नियुक्त किये, जिन्हें वे क्षत्रप कहते थे। ईसा के 90 या 120 साल के बाद आंध्र के सातवाहन नृपति गौतमीपुत्र शातकर्णि आदि के हाथों उनकी बहुत क्षति हुई। उधर, पंजाब की आर्य जातियां उनसे मौके-बे-मौके बदला निकाल लेती थीं। शकों में नहपान क्षहराट नामक एक प्रसिद्ध क्षत्रप हुआ, जिसकी बड़ी धाक थी। उनका दूसरा क्षत्रप रुद्रदामन था। इसी रुद्रदामन ने आंध्र के सातवाहन राजा वासिष्ठी-पुत्र पलुमाया को पराजित किया और उससे पश्चिम के बहुत-से प्रदेश छीन लिये। गुप्त वंश के राजाओं ने उनसे लोहा लिया। 409 ई. में मगध के गुप्त वंश के संस्थापक चंद्रगुप्त के हाथों शक क्षत्रप रुद्रसिंह की पूर्ण पराजय हुई। फिर भी, उसके बाद के सम्राट स्कन्दगुप्त को भी उनसे मुठभेड़ करनी पड़ी। धीरे-धीरे वे भारतीय जनता में इतने एकीभूत हो गये कि उनका स्वतंत्र अस्तित्व कायम नहीं रहा।

**यू-ची :** जिस यू-ची जाति ने शक जाति को उनके मूल वास-स्थान सर दरिया आमू दरिया के क्षेत्र में से मार भगाया था उसी की एक शाखा कृषाण जाति उत्तर-पश्चिम सीमान्त में बहुत शक्तिशाली हो गयी। 120 ई. में, उन्हीं में से एक प्रतिभाशाली व्यक्ति कनिष्क ने राज्य-भार संभाला।

**कनिष्क :** भारतीय इतिहास में कनिष्क का बहुत नाम है। वह बहुत प्रतिभाशाली, महत्वाकांक्षी और पराक्रमी राजा था। उसने गान्धार के पुरुषपुर (पेशावर) में अपनी राजधानी रखी। उसके साम्राज्य में मध्य एशिया के सिड्.क्याड्. अर्थात् काश-गर, खोतन के प्रदेश, काश्मीर, अफगानिस्तान और पंजाब के प्रान्त थे। इस प्रकार, कनिष्क ने भारत को मध्य एशिया तथा पश्चिमी एशिया से जोड़ दिया।

दूसरी महत्व की बात यह है कि उसने स्वयं बौद्ध धर्म का

स्वीकार किया। यही नहीं, उसने अपने यहां निखिल विश्व बौद्ध सम्मेलन किया। इसे तृतीय बौद्ध संगीति कहते हैं। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में इस संगीति का बहुत महत्व है। बौद्ध महापंडित वसुमित्र और अश्वघोष को इस सम्मेलन में निमंत्रित करके उनके मार्गदर्शन में बौद्ध धर्म-ग्रंथों की मीमांसाएं या टीकात्मक ग्रन्थ तैयार करवाए। उन्हें ताम्र पत्रों पर खुदवाया गया। ये ताम्र-पत्र एक जगह रखकर, उस पर उसने एक स्तूप बनवाया। यद्यपि उसकी प्रेरणा से, बौद्ध धर्म का प्रचार मध्य एशिया तक, पूर्व में चीन तक, ज़ोरों से होने लगा। वृहत्तर भारत की नींव डालने वालों में से एक कनिष्क भी हैं। कनिष्क ने, महायान समुदाय का प्रचार किया। इसलिए चीन, कोरिया, जापान आदि में महायान संप्रदाय ही है। कनिष्क की दूसरी विशेषता यह थी कि वह सभी धर्मों के प्रति उदारता का भाव रखता था-यहां तक कि उसके सिक्कों पर हमें यूनानी, ईरानी व हिन्दू देवताओं की आकृतियां मिलती हैं। कनिष्क की स्मृति को अमर बनाने वाले सिर्फ दो अवशेष ही आज भारत में हैं। दुख की बात यह है कि उनमें से एक, जो मथुरा जिले के माठ नामक गांव में प्राप्त हुआ, वह एक ऐसी मूर्ति है जो है तो कनिष्क की, किन्तु उसका सिर गायब है। दूसरा अवशेष 'शाहजी की ढेरी' में मिला। वह एक स्तूप था। इस स्तूप में एक तांबे की पेटी मिली। इस पेटी में (1) बुद्ध, (2) ब्रह्मा, (3) व इन्द्र की मूर्तियां, और उनके समीप (4) चन्द्र तथा सूर्य (5) और इन दोनों के बीच में, कनिष्क की मूर्ति है। कनिष्क की उपाधि भी 'शहानुशाहि' थी। यह फारसी के 'शहशाह' का प्रारंभिक रूप था। कनिष्क के पुत्र हुनिष्क ने अपने पिता के साम्राज्य की रक्षा करते हुए भी, शासन-प्रबन्ध सुव्यवस्थित रखा। हुनिष्क के पुत्र, वसुदेव के काल में साम्राज्य दुर्बल हो गया। बाद में, नष्ट हो गया।

कुषाणों के बाद ही भारत में हूणों का आक्रमण शुरू हो गया। **मगध की स्थिति :** यह वृत्तान्त उत्तर-पश्चिमी और पश्चिमी भारत का है। अशोक की मृत्यु के अनन्तर, जर्जरप्राय मगध साम्राज्य को एक बड़ी चोट कलिंग (उड़ीसा) के पराक्रमी और यशस्वी राजा खारवेल ने दी। खारवेल एक प्रतापी राजा था। उसने यूनानियों को पंजाब तक खदेड़ दिया था।

**शुंग वंश :** मगध के राजा निर्बल थे। बहुत अराजकता थी। ऐसे समय पुष्यमित्र नामक सेनाध्यक्ष ने मौर्य वंश के अंतिम सम्राट वृहद्रथ का सिर काट लिया और खुद गद्दी पर बैठ गया। पुष्यमित्र ब्राह्मण वंश का था। उसने मगध में शुंग वंश की स्थापना की। गद्दी पर बैठते ही, पुष्यमित्र ने यूनानियों को मार भगाने की तैयारी की; और वह खुद पंजाब तक उन्हें खदेड़ता हुआ गया। इस कार्य में उसको अपने पुत्र अग्निमित्र द्वारा, जो मध्यभारत के विदिशा में मगध का राज प्रतिनिधि था, विशेष सहायता मिली। पुष्यमित्र ने, यूनानियों के पराजय के उपरान्त, अश्वमेध यज्ञ किया, जिसमें भारत के सुविख्यात वैयाकरण पतंजलि भी उपस्थित थे।

पुष्यमित्र ने बौद्ध धर्म के अनुयायियों पर अत्याचार किये। बौद्ध ग्रन्थों में इन अत्याचारों पर प्रकाश डाला गया है। संभव है, वे अत्युक्तिपूर्ण हों। किन्तु इतना सही है कि पुष्यमित्र ने ब्राह्मण धर्म

को बहुत अधिक प्रधानता दी।

पुष्यमित्र के बाद, जिसकी मृत्यु ई. पू. 148 में हुई, उसका पुत्र अग्निमित्र सिंहासन पर बैठा। उसने अपने पिता से उत्तराधिकार के रूप में बंगाल से लेकर तो मथुरा तथा दक्षिण की ओर नर्मदा तट का पूरा प्रदेश पाया। यह अग्निमित्र, भारत के सुप्रसिद्ध कवि कालिदास के नाटक 'मालविकाग्निमित्र' का नायक है। मालूम होता है यह बहुत विलासी था। उसकी मृत्यु के बाद कई नरेश गद्दी पर बैठे। शुंग वंश के अंतिम राजा देवभूमि को उसके ब्राह्मण मंत्री ने मार डाला। इस प्रकार मगध के सिंहासन पर कण्व वंश स्थापित हुआ। इस वंश के राजा न विशेष कार्य-दक्ष, न पराक्रमी, न प्रतिभावान थे। उनके ज़माने में मगध राज्य सिकुड़कर छोटा हो गया। उसके अंतिम राजा सुशर्मा को आंध्र के एक राजा ने लड़ाई में मार गिराया, और मगध को अपने राज्य में शामिल कर लिया। इस प्रकार, लगभग सन् 700 ई. पू. में स्थापित इस मगध साम्राज्य का लोप हो गया।

**आंध्र वंश :** ई. पू. सन् 227 में, जिस समय मगध साम्राज्य का विस्तार बढ़ रहा था, दक्षिण में अनेक उन्नतिशील राज्य थे, किन्तु उनका पूरा इतिहास हमें ज्ञात नहीं है। महत्व की बात यह है कि उस समय सातवाहनों का एक प्रतापशाली राज्य था। ई. पू. 227 में प्रतिष्ठान नगर में यह स्थापित हुआ होगा। पुराणों ने सातवाहनों के संबंध में बहुत-कुछ लिखा है। उनके आधार पर, तथा नासिक और कन्हेरी आदि स्थानों में मिलने वाले शिलालेखों तथा सिक्कों के आधार पर, सातवाहनों का इतिहास खड़ा किया जाता है। हम इतना-भर जानते हैं कि ई. पू. 227 में सिमुक नामक एक व्यक्ति ने आंध्र में अपना राज्य स्थापित किया। जब इस राज्य का विस्तार बहुत हो गया तो पूर्व में धान्यकट (धारणी कोट) नामक स्थान पर एक नयी राजधानी बनायी गयी, जबकि पुरानी राजधानी प्रतिष्ठान रही आयी।

इस वंश के तीन नाम मिलते हैं-सातवाहन, शालिवाहन तथा शातकर्णि। ये ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। इन्होंने उत्तर भारत से घनिष्ठ संबंध स्थापित करके, वहां के सांस्कृतिक प्रभावों को दक्षिण में जाने का अवसर दिया। ये राजा ब्राह्मणों के बड़े प्रिय-पात्र थे, वैसे ही पराक्रमी भी थे। पुराणों में इनका वर्णन प्रशंसायुक्त हुआ है।

सिमुक के अनंतर शातकर्णि प्रथम प्रतिष्ठान की गद्दी पर बैठा। इसके ज़माने में सातवाहन राज्य बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर तक पहुंच गया। उसके बाद ई. पू. 28 में सातवानों में से किसी ने मगध राज्य अपने अधीन कर लिया। सातवाहनों ने अब उत्तर भारत की राजनीति में हस्तक्षेप आरंभ कर दिया। उन दिनों काठियावाड़ तथा सौराष्ट्र, मालवा और राजस्थान में शक राज्य प्रबल होते जा रहे थे। ई. 90-120 तक गौतमीपुत्र शातकर्णि नामक एक प्रतापी राजा हुआ। उसने पार्थिव-पहलव राजाओं के अलावा, यवनों और शकों को नीचा दिखाया। उसने मालवा, विदर्भ और नासिक से लेकर पूना तक का प्रदेश जीत लिया। इसके पूर्व, सातवाहनों की सत्ता को शक क्षत्रपों ने, विशेषकर नहपण क्षहराट ने, बड़ी हानि पहुंचाई थी। शातकर्णि ने इन क्षत्रपों को कुचल दिया। गौतमीपुत्र

शातकर्णिका का राज्य कृष्णा नदी से लेकर मालवा और सौराष्ट्र तक तथा विदर्भ से लेकर कोंकण तक फैला हुआ था। कहते हैं कि गौतमीपुत्र बहुत सुंदर पुरुष था। उसके बाद वासिष्ठीपुत्र पुलुमायी के जमाने में, पश्चिमी राजस्थान और मालवा को शकों ने छीन लिया। पुलुमायी के उत्तराधिकारी श्रीयज्ञ ने खोया हुआ इलाका फिर वापिस लेने की कोशिश की। इसी सातवाहन वंश में हाल नामक एक राजा हुआ। महाराष्ट्री प्राकृत में 'गाथा सप्तशती' नामक प्रेम-काव्य का रचयिता हाल ही है।

सातवाहनों का राज्य चार सदियों से ज्यादा वक्त तक रहा। वह ई. 230-233 के लगभग नष्ट हो गया। उसका महत्व हमारे लिए तीन बातों के कारण है; (1) शकों से युद्ध और परिणामतः उनकी क्षति, (2) दक्षिण भारत में उत्तर भारत की आर्य संस्कृति को प्रोत्साहन दिया जाना, (3) ब्राह्मण धर्म को प्रोत्साहन।

अशोक की मृत्यु के बाद की इन पांच सदियों में जो सत्ताएं उदित और अस्त हुईं उनका उल्लेख ऊपर किया गया। दक्षिण भारत, मध्य भारत तथा विदर्भ में सातवाहन राज्य, पूर्व में मगध राज्य, तथा उत्तर-पश्चिम तथा पश्चिम में यवनों, शकों और कुषाणों के राज्य। यही उस समय की राजनैतिक स्थिति थी।

**सामाजिक महत्व :** भारतीय इतिहास में इन राजवंशों का विशेष राजनैतिक महत्व नहीं है। किंतु, उन्होंने अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का-परिवर्तन की धाराओं का-सूत्रपात किया। इसलिए, उनका सामाजिक-सांस्कृतिक महत्व भुलाया नहीं जा सकता। हम उस युग की विशेषताओं को निम्न प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं।

(1) उस अराजकता की परिस्थिति में हुआ यह कि बहुत-से पुराने गण-राज्यों ने फिर से अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर ली। लिच्छवि, शिव, कुनिन्द, आर्जुनायन, यौधेय और मालव आदि गण-राज्य न केवल स्वतंत्र हुए, वरन् शकों का संहार करने में इन्होंने अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित किया; तत्कालीन भारतीय राजनीति में ये गणराज्य महत्वपूर्ण कार्य कर रहे थे। लिच्छवियों को छोड़कर शेष सभी गण-राज्य पश्चिमी भारत में थे, जहां एक-के-बाद एक विदेशी आक्रान्ता अपना आधिपत्य जमाते जा रहे थे। (2) इस युग में, शकों, यवनों, पार्थिव-पहलवों तथा कुषाणों आदि का संबंध, भारत के बाहर के प्रदर्शों से होने के फलस्वरूप, भारतीय धर्म और संस्कृति विदेशों में फैल गयी। कनिष्क के काल में तो बौद्ध धर्म के द्वारा वह चीन तक जा पहुंची। चीन के अतिरिक्त, वह मध्य तथा पश्चिमी एशिया में भी फैलने लगी। भारतीयों के नये-नये उपनिवेश पूर्वी तथा दक्षिण पूर्वी एशिया में स्थापित होने लगे। शैव तथा वैष्णव धर्म का पुनरुत्थान होकर, वे संप्रदाय भी दक्षिण-पूर्व एशिया में फैलने लगे। भारत विश्व की अपारता से परिचित हो गया और वह अन्य भूखण्डों में अपनी संस्कृति, और धर्म का प्रचार करने लगा (3) प्राचीन वैदिक धर्म का लोप होकर, उसके स्थान पर नये पौराणिक धर्म का अभ्युत्थान पहले ही से शुरू हो गया था। इसने अनेक विदेशी लोगों को शैव या वैष्णव बनाना शुरू किया। (4) किंतु सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात- सामाजिक दृष्टि से-यह है कि यवन, पार्थिव-पहलव, कुषाण

और शक जातियां पूर्णतः भारतीय बन गयीं। उन्होंने बौद्ध या शैव अथवा वैष्णव धर्म अंगीकार कर लिया। संस्कृत के अतिरिक्त उन्होंने प्राकृत भाषाओं को भी प्रश्रय दिया।

**ब्राह्मण साहित्य :** आज महाभारत और रामायण जिस रूप में हमें प्राप्त होते हैं, वह रूप ठीक इन्हीं दिनों बना। दोनों महाकाव्य इस युग के पहले भी थे; उनमें निरंतर वृद्धि होती रही। शुंग और सातवाहन राजाओं के समय में उनमें बहुत-कुछ वृद्धि हुई। फलतः दोनों ग्रंथों के बहुत-से अंश इस काल की अवस्था पर प्रकाश डालते हैं। नन्द-मौर्य काल में तक्षशिला में पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' की रचना की थी; शुंग काल में महर्षि पतंजलि ने उसकी व्याख्या और विश्लेषण करते हुए 'महाभाष्य' नामक अपना एक प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा।

कण्व वंश के समय संस्कृत का सुप्रसिद्ध नाटककार भास हुआ। वह मगध का रहने वाला था। साहित्य-पंडित, भास को कालिदास और भवभूति की श्रेणी में रखते हैं। उसका लिखा 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' नामक नाटक बहुत विख्यात है।

आचार्य अश्वघोष कवि भी था और नाटककार भी, बौद्ध धर्म का विद्वान भी। वह महान् कुषाण सम्राट कनिष्क का समकालीन था। उसने 'बुद्ध चरितम्' नामक महाकाव्य तथा अनेक नाटक लिखे। उसके साहित्य का अनुवाद चीनी और तिब्बती भाषाओं में हुआ, यहां तक कि सिङ्क्याङ्ग की प्राचीन तोखारी भाषा में भी। उसके कई मूल संस्कृत ग्रंथों का पता नहीं है। मध्य तथा पूर्वी एशिया की भाषाओं में उसकी कृतियों के अनुवादों की खंडित पोथियां-भर मिलती हैं। भारत में बौद्ध धर्म के क्रमशः हास और ब्राह्मण धर्म के क्रमशः उत्थान के परिणामस्वरूप, भारत में अश्वघोष उतनी कीर्ति प्राप्त नहीं कर सका, जितनी की मध्य तथा पूर्वी एशिया में।

'मृच्छकटिक' नामक सुप्रसिद्ध संस्कृत नाटक भी इसी समय रचा गया। उसका लेखक शूद्रक है। 'नाट्यशास्त्र' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ के लेखक भरत मुनि भी इसी काल में हुए। भरत मुनि का यह 'नाट्य-शास्त्र' केवल नाट्य-कला के मूलभूत सिद्धान्तों का ही ग्रंथ नहीं, वरन् साहित्य के मूलभूत तत्वों का विश्लेषण करने वाला महान ग्रंथ है। भरत मुनि के इस ग्रंथ के नाम से यह सूचित होता है कि उन दिनों के साहित्य में, नाटक का प्रधान स्थान था। सातवाहन युग के राजाओं ने अपने यहां प्राकृत को आश्रय दिया था। गुणाढ्य नामक एक श्रेष्ठ कवि ने प्राकृत में सुंदर साहित्य प्रसूत किया। सातवाहनवंशीय राजा हाल स्वयं एक उत्तम लेखक था।

**बौद्ध धर्म का प्रसार :** उत्तर पूर्व भारत तथा दक्षिण भारत में ब्राह्मण धर्म प्रधान होकर बौद्ध धर्म कमजोर होता जा रहा था।

किंतु, उत्तर-पश्चिम में उसका तीव्रतर विकास हो रहा था। वहां उसमें गहरी प्राणशक्ति थी। उस क्षेत्र में बौद्ध भिक्षु प्राचीन आदर्शों से अनुप्राणित थे। उनके अंतःकरण में उन आदर्शों ने एक उत्साह भर दिया था। उनका जीवन पवित्र था। वे उत्तर-पश्चिम के पहाड़ों और दर्रों को पार कर आगे बढ़ते जा रहे थे। मानव-कल्याण की उनकी भावना, उनका त्याग, उनका तप बर्बर से बर्बर जाति को भी प्रभावित करता था। उत्तर-पश्चिमी तथा मध्य एशिया की शक,

यू-ची तथा हूण आदि जातियों को वे बौद्ध धर्म में दीक्षित करते जा रहे थे। उन्हीं के उत्साह, परिश्रम और साहस का यह फल है कि बौद्ध धर्म मध्य एशिया से चीन तक पहुंचा।

उसी प्रकार, भारतीय दक्षिण कोण के बौद्ध भिक्षु भी यही मार्ग अंगीकार कर चुके थे। लंका, बर्मा तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया में वे एक नयी संस्कृति लेकर पहुंचे। आज यदि विएतनाम और लाओस, काम्बोडिया, थाइलैंड और बर्मा में बौद्ध धर्म है तो यह इन्हीं के सतत प्रयत्नों का फल है।

**बौद्ध साहित्य :** यह स्वाभाविक ही है कि बौद्ध धर्म के इस प्रसार काल में, बौद्ध धर्म के क्षेत्र में भी महापुरुष उत्पन्न हों। कुषाण सम्राट् कनिष्क ने इसी समय बौद्ध धर्म के महापंडितों का एक सम्मेलन भी बुलवाया था। वह 'तृतीय संगीति' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध विद्वान का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। इसी समय बौद्धों के प्रसिद्ध पवित्र ग्रंथ 'त्रिपिटक' पर 'महाविभाषा' नामक एक नये भाष्य की रचना हुई। वसुमित्र भी बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध आचार्य थे।

नागार्जुन का नाम भारत के इतिहास में अमर रहेगा। वे अपने युग के बहुत बड़े दार्शनिक थे। वे महायान संप्रदाय के अनुयायी थे। उनके दर्शन की तुलना, बौद्ध साहित्य के पश्चिमी (यूरोपीय) विद्वान हेगेल से करते हैं। हेगेल जर्मनी का बहुत बड़ा दार्शनिक था, जिसका प्रभाव सदियों तक छाया रहा। नागार्जुन का शून्यवाद उसी प्रकार प्रभावशाली था। उनकी बौद्धिक सूक्ष्म दृष्टि अद्वितीय है। उन्हीं के बहुत से तर्कों को लेकर, आठवीं ईसवीं सदी में भारत के सुप्रसिद्ध दार्शनिक वेदान्त-मत प्रवर्तक शंकराचार्य ने अपने अद्वैतवाद का विस्तार किया। इसीलिए, अपने विरोधियों द्वारा शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध कहे गये। नागार्जुन ने महायान धर्म के अनेक सूत्रों की रचना की। उनमें एक सृजनशील अन्वेषक की शोध-बुद्धि थी। नागार्जुन की प्रतिभा बहुमुखी थी। वे न केवल बौद्ध दार्शनिक थे; किंतु रसायनविज्ञान, लौहशास्त्र तथा सिद्ध-रसायन के भी अन्वेषक थे। वे इन शास्त्रों के आचार्य थे। साथ ही वे एक उत्तम वैद्य और चिकित्सक थे। वैद्यकशास्त्र का प्रधान ग्रंथ 'सुश्रुत' आज जिस रूप में मिलता है, वह रूप नागार्जुन का ही दिया हुआ है। बौद्ध पंडित के रूप में उन्होंने जिन ग्रंथों का प्रणयन किया उनमें 'माध्यमिक सूत्र वृत्ति' विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

उस युग में वैद्यकशास्त्र तथा ज्योतिषशास्त्र का भी खूब विकास हुआ। वैद्यकशास्त्र की 'चरकसंहिता' का लेखक चरक कनिष्क के समय में ही हुआ। उसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक 'गर्गसंहिता' भी उसी युग में लिखी गयी।

**जैन साहित्य :** इस काल में जैन साहित्य का भी खूब विकास हुआ। विशेषकर अध्ययन और विवेचन और संकलन का काम खूब चलता रहा।

वह महापुरुषों का, पराक्रमियों का, दार्शनिकों का युग था, जिसने, बावजूद राजनैतिक अस्थिरता के; सभ्यता, साहित्य, संस्कृति में अभूतपूर्व उन्नति की।

**वास्तु और मूर्तिकला :** गांधार शैली-उत्तर पश्चिम में यवनों के उन दिनों विशाल राज्य थे। यवन मूर्ति निर्माण कला में बहुत प्रवीण थे। जब वे बौद्ध हुए तो उन्होंने भगवान बुद्ध की मूर्तियां बनायीं। इन मूर्तियों पर यूनानियों की छाप है। यूनानी कलाकार शरीर की रूप-रचना पर बहुत ध्यान देते हैं। तब तक बौद्ध धर्म में बुद्ध के अवतारों की धारणा उत्पन्न होकर, बोधि-सत्त्वों की पूजा और उपासना होती थी। इसलिए, मूर्तियों की आवश्यकता थी। यवनों ने जो मूर्तियां बनायीं उनमें शरीर-सौंदर्य का बहुत ध्यान रखा गया है। इस कला का मुख्य केंद्र पुरुषपुर (पेशावर) था। पेशावर के कारीगरों ने हज़ारों की संख्या में ये मूर्तियां बनायीं, जो सारे भारतवर्ष में फैल गयीं। इस शैली की मूर्तियां गांधार से मथुरा तक और दक्षिण में आंध्र और अमरावती तक फैल गयीं। यवन प्रभाव होते हुए भी, उनमें आध्यात्मिक भाव है। बुद्ध के मुखमण्डल पर अनुपम तेज है। पेशावर के अनन्तर, मूर्ति कला का दूसरा बड़ा केंद्र मथुरा बना। कुषाणों के क्षेत्रों की वह राजधानी थी। इसलिए वहां गांधार शैली की मूर्तियों का निर्माण होना स्वाभाविक ही था। आज वे मूर्तियां भारत के विभिन्न कलाभवनों (म्यूज़ियमों) की शोभा बढ़ा रही हैं।

**गुफा मन्दिर :** उस युग में पर्वत को भीतर से काटकर गुफाएं बनायी जाती रहीं। मौर्य काल में, उनमें विशेष कलात्मकता नहीं आ पायी थी। किंतु, बाद की मानव-निर्मित गुफाओं को हम गुफा-मन्दिर या गुफा-प्रसाद भी कह सकते हैं। उड़ीसा और महाराष्ट्र के बहुत-से स्थानों पर गुफा-मंदिर पाये जाते हैं। बाहर से पहाड़ मालूम होते हैं, अंदर जाने पर विशाल भवन के भवन दिखायी देते हैं। महाराष्ट्र के गुहा-मन्दिरों में सर्वश्रेष्ठ है अजंता की गुहाएं। ये गुहाएं भीतर से बहुत भव्य हैं। उनकी भीतों पर, बुद्ध का जीवन रंगों द्वारा अंकित किया गया है। वे अभी भी ताजे मालूम होते हैं। नासिक के गुहा-मन्दिर में एक लेख है। कार्ला का गुहा-मन्दिर भी देखने योग्य है। इन गुहा-मन्दिरों के निर्माण का श्रेय अधिकतर सातवाहन राजाओं को ही है।

उड़ीसा के गुहा-मन्दिर जैनों के हैं। प्रसिद्ध राजा खारवेल जैन था। वे लगभग बारह हैं। उनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध हाथीगुम्फा है। इस हाथीगुम्फा में, खारवेल का सुप्रसिद्ध शिलालेख पाया जाता है।

**स्तूप इत्यादि :** भरहुत का प्रसिद्ध स्तूप शृंग काल की कला का स्मारक है। इसके अतिरिक्त, तोरण, जंगले, मंदिर इत्यादि भी बहुत बने। चित्रकला का उत्कर्ष भी खूब है, जिसका नमूना हमें अजंता की गुहाओं में देखने को मिलता है।

...क्रमशः जारी

साभार : मुक्तिबोध रचनावली, भाग 6

**isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी**

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26177904, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904,

ईमेल : notowar.isd@gmail.com / notowar@rediffmail.com / वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए